THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_178775

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H83.1/S94T Accession No. G.H.2389

Author सुदर्शन ।

Title तीर्थयात्रा । 1939

This book should be returned on or before the date last marked below.

तीर्थ-यात्रा

[सुन्दर, सुरोचक और भाव-पूर्ण कहानियाँ]

लेखक

श्रीयुत सुदर्शन

प्रकाशक

सरस्वती-प्रेस, बनारस

पहली बार] १९३९ [मूल्य २)

Printed by K. Mitra, at
The Indian Press, Ltd.,
Allahabad.

समर्पण

अपनी कहानियों का यह तुच्छ संग्रह

मैं

अपनी सौभाग्यवती धर्म-पत्नी

श्रीमती देवी लालावती

जो मेरे जीवन और जगत की सबसे बड़ी कहानी
मेरी कहानी की सबसे पहली समालोचिका हैं

और

जो मुझे हर समय
लिखने-पढ़ने की प्रेरणा करती रहती हैं

को

समर्पण करता हूँ

सुदर्शन

भूमिका

गल्प-रचना की विद्या का प्रारम्भ कब हुआ ? किसने किया ? किस तरह किया ? यह सब ऐसे प्रश्न हैं, जिनका उत्तर संसार के इतिहास से मिलना असम्भव है। परन्तु गल्प के प्रारम्भ के विषय में विश्वस्त रूप से कहा जा सकता है। कि विद्याध्ययन और मनोरंजन की यह मोहिनी सामग्री इतनी ही पुरानी है, जितनी यह दुनिया। Richard Burton साहब ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक Masters of the English Novel में लिखा है कि "कहानी दुनिया की सबसे प्यारी वस्तु है, इसलिए आश्चर्य नहीं, कि इसका श्रीगणेश उस समय से हुआ हो जब मनुष्य ने घुटनों के बल खड़ा होना सीखा हो"। मगर मेरी सम्मति में कहानी का प्रारम्भ उस समय हुआ—जब दुनिया के पहले पुत्र पहली बार ज्ञान की आँख खोली, सूरज के नीचे किसी सुन्दर और रमणीय दृश्य को लोभ की दृष्टि से देखा, और उसे अपने मन-मन्दिर की चित्र-शाला में सुरक्षित किया। उस समय प्रकृति ने अभी उसके होठों से चुप की मोहर न तोड़ी थी, न उसे कोई ऐसी विधि मालूम थी, कि अपने भाव को दूसरों पर प्रकट कर सके। वह केवल चुप की आँख से देखता था, और सोचता था। इसके बाद मिस्टर मार्विन (Mr. Marwin) के वचनानुसार उसने अपने आस पास की चीज़ों की नक़ल उतारनी शुरू की, और वृक्षों के तनों पर और चट्टानों के खुरदुरे पत्थरों पर चित्र बनाने लगा। इन

चित्रों में कला न थी, न आज-कल का सौंदर्य था। साँप और न्योले की लड़ाई, शेर और हाथियों का शिकार, देवी-देवताओं की पूजा के सिवाय उनमें और कुछ भी न था। साधारण आदमियों के लिए यह प्रारम्भ अत्यन्त तुच्छ और निःसार प्रारम्भ है, मगर यही तुच्छ और निःसार प्रारम्भ है, जिसने आज अपना विकास करके मानरो बालज़ाक (Monro Balzac), गी द मपासाँ (Gay Dr. Manpasant), सेन काई विज़ (Sein Ki Wicez), अनातोल फ्रांस (Anatole Francej), ल्यू टालस्टाय (Leo Folstry), जैक लंडन (Jack London) और रवीन्द्रनाथ ठाकुर का नाम साहित्य-संसार में उज्ज्वल कर दिया है। यह वही परमाणु है, जो आज सूरज बनकर चमक रहा है। यह वही छोटा सा बीज है जो आज एक विशाल-काय और घने वृक्ष का मनोहर रूप धारण कर चुका है, और दोपहर की हत्यारी गरमी के मारे हुए मुसाफ़िरों के लिए सुख, विश्राम और जीवन का जीता-जागता संदेसा बनकर खड़ा है।

मानव-प्रकृति परिवर्तन-प्रिय है। आदमी एक ही वस्तु को एक ही रंग-रूप में देख देख कर ऊब जाता है। कुछ देर के बाद वह वृक्षों और पत्थरों पर युद्ध, शिकार, पूजा के चित्र देख देख कर तंग आ गया, और अपने मनोरंजन के लिए किसी और वस्तु की खोज करने लगा। उधर इस बीच में उसकी वाक्शक्ति का विकास हो गया, और उसने शूरवीरों, भयंकर जीव-जन्तुओं, और प्रकृति की अमर देवियों के गीत बनाने शुरू कर दिये—कहानी गीतों के हिंडोले में पलने लगी।

बाल्यावस्था की आयु समाप्त करके यह होनहार बच्चा गीतों के हिंड़ोले से उतरा, और अपने पाँव पर चलने लगा। कभी गिरता था, कभी ठोकरें खाता था, कभी उसका कपड़ा काँटों की झाड़ियों में उलझता था। मगर यह बहादुर दिल-चला इन रुकावटों की ज़रा परवा

न करता था, और बराबर आगे बढ़ता चला जाता था। बालयात्रा में उसे सबसे पहले एक बाग़ दिखाई दिया। बच्चा था, ललचा गया, और कुछ दिन यहीं टिका रहा। फल-फूल खाता था, तोते मैना, और हिरणों से बातचीत करता था, और नदी के किनारे बैठा चैन की बाँसुरी बजाता था। इसके बाद एक जादू के शहर में जा फँसा। वहां से छूटा, तो जोबन और सुन्दरता की कुंजगलियों का चसका पड़ गया। कुछ ज़माना इन आहों और गुनाहों में कटा और इसके बाद ज्ञान-चक्षु खुल गये। ख्याल आया, मैं कितना अधम हूँ, जोबन की लालसा में घर-बार सब कुछ बिसार बैठा, मुझे दुनिया क्या कहेगी? यह ख्याल आना था, कि महात्माजी वापिस लौटे, और चुपके से घर का द्वार खोल कर गार्हस्थ्य-जीवन में प्रविष्ट हो गये। आज उसके हृदय-सागर में विषय और वासना की प्राण-घातक लहरें नहीं उठतीं, न चिड़ियों, कौवों को देखकर बाल-काल की अधीर भावनायें सिर उठाती हैं। अब वह अपना मंतव्य और कर्तव्य समझनेवाला गृहस्थी है, जिसकी सारी मनो-वृत्तियाँ घर के लिए हैं। वह घर से बाहर भी जाता है, हँसता भी है, गाता भी है, कभी कभी पुराने पापी मित्रों की चाण्डाल-चौकड़ी में भी चला जाता है, परन्तु उसके मन का तार घर ही में बजता है।

या सीधे-सादे शब्दों में हम यों कहेंगे, कहानी का पहला युग वह था, जब रात को बच्चे घर के आँगन में खेलते थे, या बुड्ढे आग तापते थे, और जंगली जीव-जन्तुओं की कहानियाँ कहते थे। मालूम होता है, पंच-तन्त्र और ईसप की कहानियाँ उसी आदि-काल की बची-खुची यादगारें हैं। इनमें लालित्य हो या न हो, मगर वे सदुपदेश के मोतियों से भरी पड़ी हैं। इसके बाद दूसरा युग जादू का युग था। लोग अद्भुत और चक्करदार कहानियाँ माँगने लगे, जैसे अलिफ़ लैला, चहार दरवेश, तलिस्म-होशरुबा की कहानियाँ हैं। इनमें मनो-

रंजन और माधुरी है, परन्तु दुनिया और दुनिया के नियमों से परे हैं। वे कहानियाँ हमारे लोक की नहीं, किसी और लोक की हैं, जिसे हमने न देखा है, न कभी देखने की सम्भावना है। वहाँ कभी कबूतर देखते देखते नौजवान राजकुमार बन जाते हैं, कभी क्षण भर में विशाल भवन खड़े हो जाते हैं। कभी कटे हुए सिर हँसते हैं, कभी मृतक शरीर घोड़ों पर चढ़ कर युद्ध करते हैं। ये कहानियाँ पाठक को चकित कर देती हैं। वह डर जाता है। वह तन्मय हो जाता है। वह खाने-पीने की सुध भूल जाता है। परन्तु कहानी की समाप्ति पर वह स्वयं अनुभव करता है कि मैंने कुछ पढ़ा नहीं, समय नष्ट किया है। फिर तीसरा युग आरम्भ हुआ, और प्रेम और सौन्दर्य की कहानियाँ शुरू हुईं। उनमें चन्द्रमा की नृत्यमयी चाँदनी, फूलों की मद-भरी गंध, और श्यामा का रोमांचकारी संगीत है। उनमें काव्य है, उनमें कला है, उनमें कल्पना है, और सबसे बढ़कर यह कि उनमें मानव-हृदय और मानव-भाव की व्याख्या है। परन्तु उनमें एक बुराई है, दुनिया उनसे ऊपर नहीं उठती, नीचे गिरती है। यहाँ यूरोप और भारत में मत-भेद है। यूरोप कहता है, एक घटना सुन्दरता से वर्णन कर दो, पाठक ऊँचा उठता है, या उसका आचार भ्रष्ट होता है, इससे हमें कोई सम्बन्ध नहीं। भारत कहता है, वह रचना रचना ही नहीं, जो संसार को ऊँचा न उठाए। परन्तु इस विषय में दोनों सहमत हैं कि कहानी में खुला उपदेश न हो। कहानी से उपदेश मिल जाये, यह दूसरी बात है, परन्तु उसमें प्रकट-रूप से उपदेश न दिया जाए। प्रकट रूप से उपदेश आया, और कहानी कला-हीन हुई। वह उपदेश है, वह व्याख्यान है, परन्तु कहानी नहीं। अब कहानी का जो नवीन युग शुरू हुआ है, वह घर के साधारण जीवन-वर्णन की कहानियों का युग है। वर्तमान समय का सर्व-श्रेष्ठ गल्प-लेखक वह है, जो गार्हस्थ्य-जीवन का चित्र खींचकर रख दे। माँ-पुत्र बैठते

हैं, तो क्या क्या बातें करते हैं ? पति-पत्नी में मन-मुटाव हो जाता है, तो उनके दिल में क्या क्या विचार आते हैं ? वह किस तरह सुलह-सफ़ाई करना चाहते हैं, मगर लज्जा उनकी जीभ पकड़ लेती है। वृद्धावस्था में बीते हुए जोबन-काल की स्मृति किस तरह आदमी के दिल को उदास कर देती है, उसकी आँखें किस तरह सजल हो जाती हैं ? माता और पिता की, बेटी और बेटे की, बहन और भाई की मुहब्बत में कितना अंतर है ? नव-युवती और बुड्ढी स्त्री के विचारों में कैसा भेद होता है ? ये सब ऐसी बातें हैं, जो वर्तमान युग के गल्पलेखक के लिए अत्युत्तम विषय हैं। बाज़ार की सैर से हृदय-कमल खिल जाता है, परन्तु जो स्वर्गीय सुख, जो आध्यात्मिक आनन्द घर के आँगन में है, वह बाहर कहां ? जंगल का स्वाधीन पंछी फूल की टहनियों पर बैठकर कैसा चहचहाता है ? उसे सुनील विस्तृत आकाश में उड़ते देखकर हमारे दिल में भी भावों की बाढ़ आ जाती है। परन्तु उसके मन की सच्ची और स्वाभाविक प्रसन्नता देखनी हो, तो उस समय देखो, जब वह अपने परों को समेट कर और जादूभरी आँखों को आधा बन्द करके, आधा खोल के अपने घोंसले में बैठा हो, और उसे इस बात की कोई चिन्ता न हो, कि बाहर क्या हो रहा है ? परन्तु इसके लिए दिल की आँख, और आँख के दिल की ज़रूरत है। सर्व-साधारण की दृष्टि में यह एक ऐसा दृश्य है, जिसमें कोई आकर्षण, कोई गौरव नहीं। जैसे रागविद्या से अनभिज्ञ आदमी को पक्के राग में मज़ा नहीं आता।

इसलिए वर्तमान युग का कहानी-लेखक बाहर का कहानी-लेखक नहीं, अन्दर का कहानी-लेखक है। दुनिया को देखनेवाले बहुत हो चुके हैं, अब दिल और घर को देखनेवालों की आवश्यकता है। बाहर क्या हो रहा है ? किस तरह हो रहा है ? यह हर कोई देखता है। परन्तु घर और दिल के अन्दर क्या हो रहा है ? वहाँ प्रवेश करना, उन्हें

देखना, और फिर जो कुछ वहाँ दिखाई दे, उसे दुनिया के सम्मुख रखना आसान नहीं। और यही समस्या है, जिसे हल करने के लिए बीसवीं सदी का कहानी-लेखक साहित्य-क्षेत्र में उतरा है।

यह कहानी के विकास और विस्तार का संक्षिप्त इतिहास है। परन्तु गल्प-रचना की विद्या कब शुरू हुई, और इसे किसने शुरू किया, यह कहना कठिन है। भिन्न भिन्न देशों की भिन्न भिन्न कहानियाँ पढ़ने और कई साल तक सोच-विचार करने के बाद मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ, कि ज़मीन की घास के समान गल्प-रचना की विद्या भी प्रत्येक देश में आपसे आप उत्पन्न हुई है, मगर अगुवा होने का सेहरा भारतवर्ष के सिर है। क्योंकि सभ्यता ने सबसे पहले इसी पुण्यभूमि में आँख खोली, अन्धकार और अविद्या के उस ज़माने में जब कि सकल संसार अशिक्षित था, प्राचीन आर्य्यों की इस प्राचीन भूमि में ज्ञान की गङ्गा बहती थीं, और जब सारी दुनिया सभ्यता से शून्य थी, भारत अभ्युदय और उन्नति की कठिन यात्रा समाप्त कर चुका था। यहाँ तक कि कहानियों के मामले में भी हम वहाँ पहुँच चुके थे, जो आज रूस और फ्रांस का आदर्श है। परन्तु किस तरह ? मैं इसे सिद्ध करूँगा।

साहित्य-कला की दृष्टि से इस समय संसार में फ्रांस और रूस सबसे आगे हैं, और जहाँ तक उपन्यास, कहानी और नाटक का सम्बन्ध है, रूस, फ्रांस से भी आगे निकल गया है। वहां आज-कल छोटी छोटी कहानियों की एक नई प्रथा चली है। उनमें एक इशारा, एक शिक्षा, एक कसक होती है। आदमी पढ़ता है और समझता है, और उछल पड़ता है। शब्द थोड़े होते हैं परन्तु लेखक अपना अभीष्ट कुछ इस तरह कह जाता है, कि पढ़नेवाले के दिल में एक चिनगारी रोशन हो जाती है। उदाहरणार्थ अग्रलिखित कहानी देखिए, जो रूस के एक सुप्रसिद्ध कहानी-लेखक ने लिखी है:—

देवताओं का फैसला

(१)

प्रातःकाल महाराज उठा, और उसने आज्ञा दी, कि दरवाज़े के भिक्षुकों को सम्मान से हमारे सामने पेश किया जाये।

उस रात उसने एक अनुपम सपना देखा था, और उसकी याद अभी तक उसकी आँखों में चमक रही थी। इसलिए उसने उन भिक्षुकों को कृपादृष्टि से देखा, और उनमें से हर एक को सोने की एक एक सौ मोहर दान दी। सारे शहर में जय जयकार होने लगा।

(२)

उसी शहर में एक ग़रीब किसान रहता था, जिसे दिन-रात के परिश्रम के बाद केवल खाने-पीने को ही प्राप्त होता था।

दोपहर के समय किसान ने अपनी स्त्री से कहा—"मेरा भाई मर गया है। अब उसके अनाथ बच्चे को भी हमें पालना होगा।"

"मगर' किसान की स्त्री ने कहा—"हम ग़रीब हैं। हमें बहुत तङ्गी से दोनों समय खाना ही मिलता है।"

किसान ने उत्तर दिया—"कोई चिन्ता नहीं। हम थोड़ा थोड़ा करके तीनों खा लेंगे।"

रात को जब आकाश पर देवताओं की सभा हुई, और दिन का हिसाब-किताब पेश हुआ, तो उन्होंने निर्णय किया कि किसान के दान के सामने महाराजा के दान का कुछ भी महत्त्व नहीं है।"

इस कहानी को यूरोप ने बेहद पसन्द किया है। उच्च कोटि की पत्रिकाओं ने लिखा है, बस यह कला की पराकाष्ठा है, अब इससे परे कोई क्या जायेगा ? और वास्तव में यह कहानी सर्वाङ्ग-सुन्दर और सर्वगुणसम्पन्न है। इसे पढ़ कर कला भी सिर मारने लग जाती है। मगर यह चीज़ दुनिया में पहली बार प्रकट हुई है, यह ग़लत है। महाभारत में एक कहानी आती है:—

सोने का न्योला

अश्वमेध-यज्ञ की समाप्ति पर जब महाराज युधिष्ठिर ने अपने ख़ज़ाने ख़ाली कर दिये, और ब्राह्मणों को बिदा का भोजन कराया, तो एक न्योला आकर रसोई में लेट गया। उसका आधा शरीर सोने का था।

थोड़ी देर बाद वह निराश होकर उठा, और क्रोध से बोला—"यह यज्ञ भी ठीक न हुआ।"

ब्राह्मणों को आश्चर्य्य हुआ।

न्योला बोला—"कई वर्ष बीते, भारत के एक प्रान्त में अकाल पड़ा, और लोग भूखों मरने लगे।

एक ब्राह्मण को बड़े परिश्रम से कुछ जौ मिले और उसने पीस कर सत्तू बनाये। ब्राह्मण, उसकी स्त्री, उसका पुत्र, और पुत्र-वधू सब ख़ुश थे, क्योंकि उनको यह अन्न कई दिन भूखा रहने के बाद मिला था। इतने में एक अतिथि ने द्वार पर आकर आवाज़ दी और कहा—"मैं भूखा हूँ"। ब्राह्मणी ने उसे अपना भाग दे दिया, परन्तु अतिथि का पेट न भरा।

इसके बाद ब्राह्मण ने अपने भाग के सत्तू दे दिये, परन्तु अतिथि अब भी भूखा था।

इस पर ब्राह्मण के पुत्र, और पुत्र-वधू ने अपने अपने सत्तू भी दे दिये, और अतिथि उनको आशीर्वाद देता हुआ चला गया।

दूसरे दिन वहां चार लाशें पड़ी थीं।

सत्तुओं की गंध पाकर मैं वहाँ चला गया। कुछ सत्तू रसोई में बिखरे हुए थे। मैं वहाँ लेट गया, और यह देखकर मुझे कैसा अचरज हुआ, कि मेरी देह को जहाँ जहाँ सत्तू लगे, वह सोने की बन गई। अब मैं हर यज्ञ में जाता हूँ, और उसके रसोई-घर में लेटता हूँ, कि शायद मेरी बाक़ी देह भी सोने की बन जाय। परन्तु मेरी मनोकामना पूरी नहीं होती।"

पाठक देखें, वही भाव है, वही लिखने का ढँग, वही इशारा, वही छिपी हुई शिक्षा। बल्कि महाभारत की कहानी कला की दृष्टि से अधिक सुरोचक है। और यह आज से पांच हज़ार पहले की बात है। गोया नहाँ रूस आज पहुँचा है, और जिस पर उसे बधाइयां दी जा रही हैं, वहाँ हम पाँच हज़ार साल पहले पहुँच चुके हैं। और इतना ही नहीं उपनिषदों की कहानियां इससे भी उच्च कोटि की हैं, और यह सारी दुनिया जानती और मानती है, कि उपनिषद् महाभारत से बहुत पुराने हैं। परन्तु भारतवर्ष का दुर्भाग्य देखिए, आज हम ऐसी कला-पूर्ण कहानियों को समझ भी नहीं सकते, न हमें उनमें कोई काव्य, कोई सौंदर्य्य, कोई गुण दिखाई देता है। सम्भव है, फ्रांस और रूस के मोती देखकर हमें भी अपने फेंके हुए जवाहरात का ध्यान आ जाए।

'तीर्थ-यात्रा' में मैंने इस प्रकार की एक गल्प 'संसार की सबसे बड़ी कहानी' दी है। देखें उसे हिन्दी-पाठक पसन्द करते हैं या नहीं। अगर उन्होंने इस कहानी को पसन्द किया, तो मेरा विचार है, इसी ढंग की कहानियों का एक संग्रह अलग प्रकाशित करूँ।

रामकुटिया
बुकडिपो, लाहौर
२१—६—२७

सुदर्शन

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ
१—आशीर्वाद	... ...	१
२—अपनी ओर देखकर	... ...	१८
३—घोर पाप	... ...	३२
४—सेवा-धर्म	... ...	५८
५—अँधेरी दुनिया	... ...	७४
६—हार की जीत	... ...	१००
७—बलिदान	... ...	१०८
८—पारिवारिक शिक्षा	... ...	१३८
९—पाप-परिणाम	... ...	१५६
१०—अलबम	... ...	१७३
११—कवि की स्त्री	... ...	१८३
१२—काल-चक्र	... ...	२०९
१३—संसार की सबसे बड़ी कहानी	... ...	२२१
१४—भग्न हृदय	... ...	२२४
१५—प्रबला (नाटक)	... ...	२४४

—:o:—

तीर्थ-यात्रा

—:※:—

आशीर्वाद

(१)

लाजवन्ती के हां कई पुत्र उत्पन्न हुए; परन्तु सब-के-सब बचपन ही में मर गये। अन्तिम पुत्र हेमराज उसके जीवन का आश्रय था। उसका मुख देखकर वह पहले बच्चों की मृत्यु का शोक भूल जाती थी। यद्यपि हेमराज का रङ्ग-रूप साधारण दिहाती बालकों का-सा ही था, तथापि लाजवन्ती उसे सबसे सुन्दर समझती थी। मातृ-वात्सल्य ने आँखों को धोखे में डाल दिया था। लाजवन्ती को उसकी इतनी चिन्ता थी कि प्रतिक्षण उसे छाती से लगाये रहती थी; मानो वह कोई

दीपक हो, जिसे बुझाने के लिए शिशिर के तीक्ष्ण झोंके बार-बार आक्रमण कर रहे हों। वह उसे छिपा-छिपा कर रखती थी, कहीं उसे किसी की कुदृष्टि न लग जाय। गाँव के लड़के खेतों में स्वच्छंदता से खेलते फिरते हैं, परन्तु लाजवन्ती हेमराज को घर से बाहर न निकलने देती थी। और, कभी निकल भी जाता, तो घबराकर ढूँढ़ने लग जाती थी। गाँव की स्त्रियाँ कहतीं—"हमारे भी तो लड़के हैं, तू यों पागल क्यों हो जाती है?" लाजवन्ती यह सुनती, तो उसकी आँखों में आँसू लहराने लगते। भर्राये हुए स्वर से उत्तर देती—"क्या कहूँ? मेरा जी डरता रहता है!"

इस समय उसे अपने मरे हुए पुत्र याद आ जाते थे।

परन्तु इतना सावधान रहने पर भी हेमराज कुदृष्टि से न बच सका। प्रातःकाल था; लाजवन्ती दूध दुह रही थी। इतने में हेमराज जागा, और मुँह फुलाकर बोला—"माँ!"

आवाज़ में उदासी थी। लाजवंती के हाथ से बर्तन गिर गया। दौड़ती हुई हेमराज के पास पहुँची, और प्यार से उसके सिर पर हाथ फेरकर बोली—"क्यों हेम! क्या है बेटा?"

हेमराज की आँखों में आँसू डबडबा आये; रुक-रुककर बोला—"सिर में दर्द होता है।"

बात साधारण थी; परन्तु लाजवंती का हृदय काँप गया। यही दिन थे, यही ऋतु, जब उसका पहला पुत्र मदन

मरा था। वह भी इसी तरह बीमार हुआ था। उस समय भी लाजवंती ने उसकी सेवा-शुश्रूषा में दिन-रात एक कर दिया था। परन्तु जो होना होता है, उसे कौन मेट सकता है। निर्दयी मृत्यु ने लाजवंती का सर्वस्व छीन लिया। लाजवंती उस समय इस दुःख से अधमरी-सी हो गई थी। वही घटना इस समय उसकी आँखों के सामने फिर गई। क्या अब फिर—

लाजवंती के पैरों के नीचे से मिट्टी खिसकती-सी प्रतीत होने लगी। जिस प्रकार विद्यार्थी एक बार फ़ेल होकर दूसरी बार परीक्षा में बैठते घबराता है, उसी प्रकार हेमराज के सिर-दर्द से लाजवंती व्याकुल हो गई। गाँव में दुर्गादास वैद्य अच्छे अनुभवी थे। लोग उन्हें देवता समझते थे। सैकड़ों रोगी उनके हाथों से आरोग्य होते थे। आस-पास के गाँवों में उनका बड़ा नाम था। लाजवंती उड़ती हुई उनके पास पहुँची। वैद्यजी बैठे एक पुराना साप्ताहिक समाचार-पत्र पढ़ रहे थे। लाजवन्ती को देखकर उन्होंने पत्र हाथ से रख दिया, और आँखों से ऐनक उतारकर बोले—"क्यों बेटी! क्या बात है?"

वैद्यजी इस गाँव के रहनेवाले न थे। अवस्था भी पचास से ऊपर थी। अतएव गाँव की बहू-बेटियाँ उनसे परदा न करती थीं। लाजवन्ती ने चिंतित-सी होकर उत्तर दिया—"हेम बीमार है।"

वैद्यजी ने सहानुभूति के साथ पूछा—"कब से ?"

"आज ही से; कहता है, सिर में दर्द है।"

"बुख़ार तो नहीं ?"

"मालूम तो नहीं होता। आप चलकर देख लेते, तो अच्छा था।"

वैद्यजी का मनोरथ सिद्ध हुआ। उन्होंने जल्दी से कपड़े पहने, और लाजवन्ती के साथ हो लिये। हेमराज बुख़ार से बेसुध पड़ा था। वैद्यजी ने नाड़ी देखी, माथे पर हाथ रक्खा, और फिर कहा—"कोई चिंता नहीं। दवा देता हूँ; बुख़ार उतर जायगा।"

लाजवन्ती के डूबते हुए हृदय को सहारा मिल गया। उसने दुपट्टे के आँचल से अठन्नी खोली, और वैद्यजी की भेंट कर दी। वैद्यजी ने मुख से 'नहीं-नहीं' कहा, परन्तु हाथों ने मुख का साथ न दिया।

(२)

कई दिन बीत गये, हेम का ज्वर नहीं घटा। वैद्यजी ने कई ओषधियाँ बदलीं; परन्तु किसी ने अपना असर न दिखाया। लाजवंती की चिंता बढ़ने लगी। वह रात-रात-भर उसके सिरहाने बैठी रहती। लोग आते और धीरज दे-देकर चले जाते; परन्तु लाजवंती का मन उनकी बातों की ओर न था। वह अपने मन की पूरी शक्ति से हेम की शुश्रूषा में लग रही थी।

एक दिन वैद्य से पूछा—"क्या कारण है, जो बुख़ार नहीं उतरता ?"

वैद्यजी ने एक कटाक्ष-विशेष से, जो प्रायः वैद्य लोग ही किया करते हैं, उत्तर दिया—"मियादी बुख़ार है।"

लाजवंती ने तड़पकर पूछा—"मियादी बुख़ार क्या ?"

"अपनी मियाद (अवधि) पूरी करके उतरेगा।"

"पर कब तक ?"

"इक्कीसवें दिन उतरेगा; इससे पहले नहीं उतर सकता।"

"आज ग्यारह दिन हो गये हैं।"

"बस दस दिन और हैं।"

लाजवंती का माथा ठनका; हिचकिचाते हुए बोली—"कोई अंदेसा तो नहीं है ?"

वैद्यजी थोड़ी देर चुप रहे। इस समय वह सोच रहे थे कि उसे सच बताएं, या न बताएं। आख़िर बोले—"देखो बुख़ार दुस्साध्य-सा है; हानिकारक भी हो सकता है। मेरी सम्मति में हेम के पिता को बुलवा लो।"

लाजवंती सहम गई। रेत के स्थलों को मीठे जल की नदी समझकर जब हरिण पास पहुँचकर देखता है कि नदी अभी तक उतनी ही दूर है, तो जो दशा उसके मन की होती है, वही दशा इस समय लाजवंती की हुई। उसे आशा नहीं, निश्चय हो गया था कि हेम एक-आध दिन में स्वस्थ हो

जायगा; परन्तु वैद्य की बात सुनकर उसका हृदय बैठ गया। उसका पति रामलाल सचदेव मुलतान में नौकर था। उसने उसे पत्र लिखा, वह तीसरे दिन पहुँच गया। चिकित्सा दुगनी सावधानी से होने लगी। यहाँ तक कि दस दिन और भी व्यतीत हो गये। अब इक्कीसवां दिन सिर पर था। लाजवंती और रामलाल दोनों घबरा गये। हेम को देह अभी तक आग की तरह तप रही थी। क्या बुख़ार एकाएक उतरेगा?

वैद्यजी ने आकर नाड़ी देखी, तो आतुर-से होकर बोले—"आज की रात बड़ी भयानक है। सावधान रहना, बुख़ार एकाएक उतरेगा।"

(३)

लाजवंती और रामलाल, दोनों के प्राण सूख गये। वैद्य के शब्द किसी आनेवाले भय की पूर्व-सूचना थे। रामलाल दवायें सँभालकर बेटे के सिरहाने बैठे। परन्तु लाजवंती के हृदय को कल न थी। उसने संध्या-समय थाल में घी के दीपक जलाये, और मन्दिर की ओर चली। इस समय उसे आशा अपनी पूरी जीवन-सामग्री के साथ सामने नृत्य करती हुई दिखाई दी। लाजवन्ती अनन्यभाव से मन्दिर में पहुँची, और देवी के सामने गिरकर देर तक रोती रही। जब थककर उसने सिर उठाया, तो उसका मुख-मंडल शांत था, जैसे तूफ़ान के बाद समुद्र शांत हो जाता है।

उसको ऐसा प्रतीत हुआ, मानो कोई दिव्य शक्ति उसके कान में कह रही है कि तूने आँसू बहाकर देवी के पाषाण-हृदय को पिघला दिया है। परन्तु उसने इतने ही पर संतोष न किया; मातृ-स्नेह ने भय को चरम-सीमा पर पहुँचा दिया था। लाजवंती ने देवी की आरती उतारी, फूल चढ़ाये, मन्दिर की परिक्रमा की और प्रेम के बोझ से कंपित स्वर से मानता मानी कि "देवी माता ! मेरा हेम बच जाय, तो मैं तीर्थ-यात्रा करूँगी।"

यह मानता मानने के बाद लाजवन्ती को ऐसा जान पड़ा, जैसे उसके हृदय पर से किसी ने कोई बोझ हटा लिया है। उसे निश्चय हो गया कि अब हेम को कोई भय नहीं है। लौटी, तो उसके पाँव भूमि पर न पड़ते थे। उसके हृदय-समुद्र में आनंद की तरंगें उठ रही थीं। उड़ती हुई घर पहुँची, तो उसके पति ने कहा—"लो बधाई हो, तुम्हारा परिश्रम सफल होने को है; बुख़ार धीरे-धीरे उतर रहा है।"

लाजवंती के मुख पर प्रसन्नता थी और नेत्रों में आशा की सुखमयी झलक। झूमती हुई बोली—"अब हेम को कोई डर नहीं है। मैं तीर्थ-यात्रा की मानता मान आई हूँ।"

रामलाल ने तीर्थ-यात्रा के ख़र्च का अनुमान किया, तो हृदय बैठ गया; परन्तु पुत्र-स्नेह ने इस चिंता को देर तक न ठहरने दिया। उसने बादलों से निकलते हुए चन्द्रमा के समान मुस्कराकर उत्तर दिया—"अच्छा किया, रुपये का

क्या है, आता है चला जाता है। परमेशर ने एक लाल दिया है, वह जीता रहे।"

लाजवंती ने स्वामी को सुला दिया और आप रात-भर जागती रही। उसके हृदय पर ब्रह्मानंद की मस्ती छा रही थी। प्रभात हुआ, तो हेम का ज्वर उतर गया था। लाजवंती के मुख-मंडल से प्रसन्नता टपक रही थी, जैसे संध्या के समय गौओं के स्तनों से दूध की बूँदें टपकने लगती हैं।

वैद्यजी ने आकर देखा, तो उनका मुख-मंडल चमक उठा। अभिमान से सिर उठाकर बोले—"अब कोई चिंता नहीं।"

लाजवंती ने हेम की देह पर हाथ फेरते हुए कहा—"बच्चा क्या से क्या हो गया है।"

वैद्य ने लाजवंती की ओर देखा, और रामलाल से बोले—"यह सब इसी के परिश्रम का फल है।"

लाजवंती ने उत्तर दिया—"देवी माता की कृपा है, अथवा आपकी औषध के प्रभाव का फल है। मैंने क्या किया है?"

"मैं तुम्हें दूसरी सावित्री समझता हूँ। उसने मरे हुए पति को जिलाया था, तुमने पुत्र को मृत्यु के मुँह से निकाला है। तुम यदि दिन-रात एक न कर देतीं, तो हेम का बचना सर्वथा असंभव था।"

रामलाल के होठों पर मुस्कराहट थी। इसके सातवें दिन वह अपनी नौकरी पर चले गये।

(४)

तीन मास व्यतीत हो गये; लाजवंती तीर्थ-यात्रा के लिए तैयार हुई। अब उसके मुख पर फिर वही आभा थी; आँखों में फिर वही चमक। हेम आँगन में इस प्रकार चहकता फिरता था, जैसे फूलों पर बुलबुल। लाजवंती उसे देखती, तो फूली न समाती थी। तीर्थ-यात्रा से पहले की रात को उसके आँगन में सारा गाँव इकट्ठा हो रहा था। झाँझें और करतालें बज रही थीं। ढोलक की थाप गूँज रही थी। कहीं पूरियाँ बन रही थीं, कहीं हलुआ। उनकी सुगंध से दिमाग़ तर हुए जाते थे। लाजवंती इधर-से-उधर और उधर-से-इधर आ-जा रही थी, मानों उसके यहाँ ब्याह हो। एक ओर निचिंते साधु सुलफ़े के दम लगाकर गाँव की हवा को शुद्ध कर रहे थे। उनकी ओर गाँव के लोग इस तरह देखते थे, जैसे किसान तहसीलदार की ओर देखते हैं। आँखों में श्रद्धा-भाव के स्थान में भय और आतंक की मात्रा कहीं अधिक थी। लाजवंती से कोई मैदा माँगता था, कोई घी। कोई कहता था, हलवाई खाँड़ के लिए चिल्ला रहा है। कोई पूछता था, अमचूर का बरतन कहाँ है। कोई और समय होता, तो लाजवंती

घबरा जाती। पर इस समय उसके मुख पर घबराहट न थी। सोचती थी, कैसा सौभाग्य है, जो यह दिन मिला।

परन्तु सारा गाँव प्रसन्न हो, यह बात न थी। वहीं स्त्रियों में बैठी हुई एक वृद्धा स्त्री असीम दुःख में डूबी हुई थी। यह लाजवंती की बूढ़ी पड़ोसिन हरो थी। अत्यंत दुःख के कारण उसके कंठ से आवाज़ न निकलती थी। नगर होता, तो वह इस उत्सव में कभी सम्मिलित न होती; परन्तु गाँव की बात थी। न आती, तो उँगलियाँ उठने लगतीं। आनंदमय हास-परिहास के बीच में उसका मस्तिष्क दुःख और शोक के कारण खौल रहा था, जैसे ठंडे समुद्र में गरम जल का स्रोत उबल रहा हो। वह स्रोत शेष समुद्र से कितना परे कितना अलग होता है?

इसी प्रकार रात के चार बज गये; लोग खा-पीकर विश्राम करने लगे। जो बच रहा, वह ग़रीबों को बाँट दिया गया। लाजवंती ने लोगों को बिदा किया और चलने की तैयारी मे लगी। उसने एक टीन के बक्स में आवश्यक कपड़े रक्खे, एक बिस्तर तैयार किया, कंठ में लाल रंग की सूती माला पहनी, मस्तक पर चंदन का लेप किया। गऊ पड़ोसिन को सौंपी, और उससे बार-बार कहा—"इसका पूरा-पूरा ध्यान रखना। मैं जा रही हूँ, मगर मेरा मन अपनी गऊ में रहेगा।" सहसा किसी की सिसकी भरने की आवाज़ सुनाई दी। लाजवंती के कान खड़े हो

गये। उसने चारों ओर देखा, परन्तु कोई दिखाई न दिया। इस समय सारा गाँव सुख-स्वप्न में अचेत पड़ा था। यह सिसकी भरनेवाला कौन है? यह सोचकर लाजवंती चकित रह गई। वह आँगन में निकल आई, और ध्यान से सुनने लगी। सिसकी की आवाज़ फिर सुनाई दी।

लाजवंती छत पर चढ़ गई, और पड़ोसिन के आँगन में झुककर ज़ोर से बोलने लगी—"माँ हरो!"

कुछ देर तक सन्नाटा रहा। फिर एक चारपाई पर से उत्तर मिला—"कौन है, लाजवंती?"

आवाज़ में आँसू मिले हुए थे।

लाजवंती जल्दी से नीचे उतर गई, और हरो के पास पहुँच कर बोली—"माँ, क्या बात है?"

हरो सचमुच रो रही थी। परन्तु अपना दुःख लाजवंती के सामने कहते हुए उसके नारी-दर्प को बट्टा लगता था, इसलिए अपनी वास्तविक अवस्था को छिपाती हुई बोली—"कुछ नहीं।"

"रो क्यों रही हो?"

हरो के रुके हुए आँसुओं की बाधा टूट गई; उसका दुःखी हृदय सहानुभूति की एक चोट को भी सहन न कर सका। वह सिसकियाँ भर भरकर रोने लगी।

लाजवंती ने फिर पूछा—"माँ! बात क्या है?"

हरो ने कुछ उत्तर न दिया। वह सोच रही थी कि इस समय क्या करना उचित है? प्रभात हो चला था; कुछ-कुछ प्रकाश निकल आया था। लाजवंती चलने के लिए आतुर हो रही थी। परन्तु हरो को क्या दुःख है, यह जाने बिना चले जाना उसके लिए कठिन था। उसने तीसरी बार फिर पूछा—"माँ, बता दो ना, तुम्हें क्या दुःख है?"

हरो ने दुःखी होकर कहा—"क्या तुम उसे दूर कर दोगी?"

"हो सका, तो दूर कर दूँगी।"

"यह असंभव है।"

"परन्तु बतलाने में क्या हानि है?"

हरो थोड़ी देर तक चुप रही; फिर धीरे से बोली—"बेटी का दुःख खा रहा है।"

"यह क्यों? उसके ब्याह का ख़र्च तो तुम्हारे जेठ ने देना स्वीकार कर लिया है।"

"ऐसे भाग होते, तो रोना काहे का था?"

लाजवंती ने अकुलाकर पूछा—"तो क्या यह झूठ है?"

"बिलकुल झूठ भी नहीं। उसने दो सौ रुपये के गहने बनवा दिये हैं; परन्तु मिठाई आदि का प्रबन्ध नहीं किया। अब चिन्ता यह है कि बारात आएगी, तो उसके सामने क्या धरूँगी?"

लाजवंती ने कुछ सोच कर उत्तर दिया—"क्या गाँव के लोग एक निर्धन ब्राह्मणी की कन्या का ब्या नहीं कर सकते ?"

हरो की आँखें भर आईं। वह इस समय निर्धन थी, परन्तु कभी उसने अच्छे दिन भी देखे थे। लाजवंती के प्रस्ताव से उसे अत्यंत दुःख हुआ, जैसे नया-नया भिखारी गालियाँ सुनकर पृथ्वी में गड़ जाता है। उसने धीरे-से कहा—"बेटी ! यह अपमान न देखा जायगा।"

"परन्तु इस तरह तो गाँव-भर की नाक कट जायगी।"

हरो ने बात काटकर कहा—"मैं इसे सहन नहीं कर सकूँगी।"

"तो क्या करोगी ? कन्या कुँवारी रक्खोगी ?"

"भगवान् की यही इच्छा है, तो मेरा क्या बस है ? कहीं निकल जाऊँगी।"

लाजवंती ब्राह्मणी की करुणा-जनक अवस्था देखकर काँप गई। उसे ऐसा प्रतीत हुआ, मानों कोई कह रहा है कि यदि यह हो गया, तो ईश्वर का कोप गाँव-भर को जलाकर ख़ाक कर देगा। लाजवंती अपने आप को भूल गई। उसका हृदय दुःख से पानी-पानी हो गया। उसने जोश से कहा—"चिन्ता न करो, तुम्हारा यह संकट मैं दूर कर दूँगी।"

हरो ने वह सुना, जिसकी उसे इच्छा थी, परन्तु आशा न थी। उसके नेत्रों में कृतज्ञता के आँसू छलकने लगे। लाजवंती

तीर्थ-यात्रा के लिए अधीर हो रही थी। वह सोचती थी—हरद्वार, मथुरा, वृंदावन के मन्दिरों को देखकर हृदय कली की तरह खिल जायगा। परन्तु जो आनंद उसे इस समय प्राप्त हुआ, वह उस कल्पित आनंद की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़-चढ़कर था। वह दौड़ती हुई अपने घर गई, और संदूक़ से दो सौ रुपये लाकर हरो के सामने ढेर कर दिये। यह रुपये जमा करते समय वह प्रसन्न हुई थी, पर उन्हें देते समय उससे भी अधिक प्रसन्न हुई।

(५)

लाजवंती के तीर्थ-यात्रा का विचार स्थगित करने पर गाँव में आग-सी लग गई। लोग कहते थे, लाजवंती ने बहुत बुरा किया। देवी माता का क्रोध उसे नष्ट कर देगा। स्त्रियाँ कहती थीं—किस शेख़ी पर रात को रतजगा किया था? साठ-सत्तर रुपये ख़र्च हो गये, अब घर में बैठ गई है। नहीं जाना था, तो इस दिखाव की क्या आवश्यकता थी? कोई कहती थी—देवी-देवतों के साथ यह हँसी अच्छी नहीं; ले-देकर एक लड़का है, उसकी ख़ैर मनाए। जो बूढ़ी थीं, वे माला की गुरियाँ फेरते-फेरते बोलीं—कलजुग का पहरा है, जो न हो जाय, सो थोड़ा! ऐसा तो आज तक नहीं सुना था! पर असली भेद का किसी को भी पता न था। धीरे-धीरे यह बातें लाजवंती के कानों तक भी जा पहुँचीं। पहले तो उसने उनकी कुछ परवा नहीं की,

परन्तु जब सब ओर यही चर्चा और यही बात सुनी, तो उसका चित्त भी डाँवाडोल होने लगा। वायु ने झक्कड़ का रूप धारण कर लिया था; अब यात्रा घबराने लगा।

लाजवंती सोचती थी—मैंने बुरा क्या किया? एक निर्धन ब्राह्मणी की बेटी के विवाह में सहायता देना क्या देवी को पसंद नहीं? और, मैंने तीर्थ-यात्रा का विचार छोड़ नहीं दिया, केवल कुछ काल के लिए स्थगित कर दिया है। इस पर देवी-देवता कुपित क्यों होने लगे? परन्तु दूसरा विचार उठता कि मैंने सचमुच भूल की। देवी-देवतों की भेंट किसी मनुष्य को देना अपराध नहीं, तो और क्या है? यह विचार आते ही उसका कलेजा काँप जाता, और हेम के विषय में भयानक संशय उत्पन्न होने लग जाते। संसार बुराइयों का पश्चात्ताप करता है; लाजवंती भलाई पर पछता रही थी। दिन की चैन उड़ गई, रात की नींद हराम हो गई! उसे वहम हो गया कि अब हेम की कुशल नहीं। उसे खेलता देखती, तो उसके हृदय पर कटारियाँ चल जाती थीं।

इसी प्रकार कई दिन बीत गये। गाँव में चहल-पहल दिखाई देने लगी। हलवाई की दूकान पर मिठाइयाँ तैयार होने लगीं। गाँव की कुवाँरी कन्याओं के हाथों में मेंहदी रची हुई थी। रात के बारह-बारह बजे तक हरो की छत पर ढोलक बजती रहती, और स्त्रियों के दिहाती

गीतों से गाँव गूँजता रहता। एक वह दिन था, जब लाजवंती प्रसन्न थी और हरो दुखी। और, आज हरो के यहाँ चहल-पहल थी, परन्तु लाजवंती के यहाँ उदासी बरस रही थी। समय के फेर ने काया-पलट कर दी थी।

रात्रि का समय था; मन्दिर में घंटे बज रहे थे। लाजवन्ती ने आरती का थाल उठाया, और पूजा के लिए चली। परन्तु दरवाज़े पर पहुँच कर पाँव रुक गये। उसे ऐसा प्रतीत हुआ, मानो देवी की मूर्ति उसे दण्ड देने के लिए नेत्र लाल किये खड़ी है। लाजवन्ती का कलेजा धड़कने लगा। वह डर कर दरवाज़े पर बैठ गई, और रोने लगी। जिस प्रकार दुर्बल विद्यार्थी को परीक्षा के कमरे में जाने का साहस नहीं होता।

सहसा उसे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे कोई प्रार्थना कर रहा है। लाजवन्ती का रोम-रोम कान बन गया। उसे निश्चय हो गया कि इस प्रार्थना का अवश्य ही मेरे साथ कुछ सम्बन्ध है, और घटना ने बतला दिया कि वह ग़लती पर न थी। कोई कह रहा था—

"देवी माता! उसे सदा सुहागिन बनाओ। उसके बेटे को चिरञ्जीव रक्खो! उसने एक असहाय ब्राह्मणी का मान रक्खा है, तुम उसको इसका फल दो! उसके बेटे और पति का बाल भी बाँका न हो! यह एक बूढ़ी ब्राह्मणी की प्रार्थना है, इसे

सुनो और स्वीकार करो। जिस प्रकार उसने मेरा कलेजा ठंडा किया है, उसी प्रकार उसका भी कलेजा ठंडा रक्खो।"

यह ब्राह्मणी हरो थी। लाजवन्ती के रोम-रोम में हर्ष की लहर दौड़ गई। उसके सारे सन्देह धुएँ के बादलों की तरह तितर-बितर हो गये। वह रोते हुए आगे बढ़ी, और बूढ़ी ब्राह्मणी के पैरों से लिपट गई।

रात्रि को स्वप्न में वह फिर देवी के सम्मुख थी। सहसा देवी की मूर्ति ने अपने सिंहासन से नीचे उतर कर लाजवन्ती को गले से लगा लिया, और कहा—"तूने जो कुछ किया है, वह लाख तीर्थ-यात्रा से भी बढ़कर है।"

लाजवन्ती की आँख खुल गई। इस समय उसे ऐसी प्रसन्नता प्राप्त हुई, जैसी आज तक कभी न हुई थी।

—:०:—

अपनी ओर देखकर

(१)

मेरे दफ़्तर के क्लर्कों में साधुराम सबसे जूनियर था। उसका मासिक वेतन केवल पच्चीस रुपये था, परन्तु उसका काम सबसे अधिक और सबसे सुथरा होता था। मैंने उसे कभी दफ़्तर में देर करके आते नहीं देखा, न मैंने कभी उसके काम में त्रुटि ही पाई। दस से चार बजे तक सिर नीचा किये वह बराबर अपने काम में लगा रहता था। कार्य्यवशात् यदि मैं कभी बाहर चला जाता तो सब क्लर्क काम छोड़कर बातें करने लग जाते, परन्तु साधुराम इसे अधर्म समझता था, वह उस समय भी बराबर अपने काग़ज़ों पर झुका रहता था। मैंने उसे कभी किसी से लड़ते-झगड़ते नहीं देखा। वह ऐसा भलामानस और सज्जन पुरुष था कि चपरासियों को भी "तू" कह कर नहीं बुलाता था। कई बार मैंने साधुराम को चपरासियों से कोई काम कराने के लिए कहा, परन्तु उसे उसने आप ही कर लिया। मैं इसे दफ़्तर का अपमान समझता था और साधुराम को डाँट देता था, परन्तु वह इसे भी चुपचाप सहन कर लेता था। इतना ही नहीं, उसमें और भी कई गुण थे। वेतन थोड़ा होने पर भी उसके वस्त्र

दूसरों से साफ़ होते थे, और मुखमण्डल खिला हुआ फूल। मैंने उसे कभी उदास नहीं देखा। दफ़्तर के दूसरे आदमी प्रायः अपना काम भी उसे ही सौंप दिया करते थे। कोई और होता तो जल कर कोयला हो जाता, परन्तु साधुराम के मस्तक पर बल न पड़ता था। वह उसे भी ऐसे परिश्रम और मनोयोग से करता, जैसे उसका निजी काम हो। उसके इन गुणों ने मेरे हृदय में अपना स्थान बना लिया। मैं उसे अपने कमरे में बुलाने लगा। अब मुझे मालूम हुआ कि उसका हृदय आत्मज्ञान का सरोवर है। बातचीत करते समय वह कभी रोब में नहीं आता था—जिस बात पर अड़ जाता, उससे उसे हटाना आसान न था। मैं ज्यों ज्यों उससे अधिक परिचित होता गया, उसका प्रेम मेरे हृदय में घर करता गया, यहाँ तक कि मैंने उसे अपने मकान पर बुलाना आरम्भ कर दिया।

अब वह प्रतिदिन सायङ्काल को मेरे यहाँ आता था और घण्टों बातचीत करता रहता था। आठ दस दिन ही के बाद मेरे लड़के-बालों को उससे इतना प्रेम हो गया कि साँझ होते ही द्वार पर जा खड़े होते, और यदि उसे आने में कुछ भी विलम्ब हो जाता, तो व्याकुल से हो जाते। परन्तु साधुराम आत्मसम्मान को हाथ से नहीं जाने देता था। मेरी सम्मति में वह किसी दफ़्तर का इनचार्ज (Incharge) होने के योग्य था, परन्तु प्रारब्ध ने उसे कहाँ फेंक रक्खा था? सोना पीतल की खान में पड़ा था।

(२)

मुझे दफ़्तर में आये हुए एक वर्ष हो गया। इस बीच में कई स्थान ख़ाली हुए, जिनके लिए जूनियर क्लर्कों ने प्रार्थना-पत्र भेजे, परन्तु साधुराम ने ऐसा कोई प्रयत्न न किया। मैं जानता था कि साधुराम उनके लिए सब प्रकार से उपयुक्त है, और चाहता था कि अवसर मिले तो उसे किसी उच्च पद पर नियत कर दूँ, मगर वह इतना सीधा सादा और ऐसा सन्तोषी था कि उसने एक बार भी मुझसे नहीं कहा कि मेरा ध्यान रखना। पहले-पहल मैंने इसे अभिमान समझा और तरक्क़ी का हर एक अवसर दूसरों को देता गया। साधुराम पच्चीस ही पर पड़ा रहा। वह मेरे पास प्रतिदिन आता था मुझसे घण्टों बातचीत करता रहता था, मगर इस विषय में उसने एक बार भी कहने की आवश्यकता नहीं समझी। यहाँ तक कि उसके अभिमानी होने के बारे में मेरी सम्मति बदल गई, और मैंने निश्चय कर लिया कि अबकी बार साधुराम का ध्यान रक्खूँगा।

सौभाग्य से मुझे अधिक प्रतीक्षा न करनी पड़ी। रिकार्ड ब्राँच का एक क्लर्क छः मास की छुट्टी पर जा रहा था। उसका वेतन ५०) था। दफ़्तर के कई क्लर्कों ने अर्ज़ियाँ दीं और अपने अपने स्वत्वों पर ज़ोर दिया। मगर साधुराम इस बार भी चुप रहा. जैसे उसे इस घटना का ज्ञान ही न था। वह उसी तरह शान्त था, परन्तु मुझे शान्ति न थी। सन्ध्या

का समय था, वह नियमानुसार मेरे घर आया। मैंने छूटते ही कहा--"साधुराम ! तुमने कुछ सुना ?"

साधुराम ने बैठते हुए पूछा—"क्या ?"

"गुलाम नबी छः मास की छुट्टी पर जा रहा है।"

साधुराम का मुखमण्डल तमतमा उठा, जैसे किसी ने गाली दे दी हो, तथापि सँभल कर बोला--"जी हाँ, सुना है।"

"उसके लिए बहुत से क्लर्कों ने प्रार्थना-पत्र भेजे हैं।"

"जी।"

"परन्तु तुमने कोई प्रयत्न नहीं किया। यह तुम्हारा अधिकार है।"

साधुराम ने बेपरवाई से उत्तर दिया—"मुझे इसकी कोई आवश्यकता नहीं।"

मुझे आश्चर्य हुआ—"क्या कहते हो ? तुम्हें कोई आवश्यकता नहीं ?"

"रत्ती भर भी नहीं।"

"तो उन्नति के समग्र अवसर हाथ से खो दोगे ?"

"यह आपका काम है। गवर्नमेंट ने यह उत्तरदायित्व-पूर्ण अधिकार आपको दिया है। अब यह निर्णय करना आपका काम है, और काम ही नहीं, प्रत्युत कर्त्तव्य है, कि वेतनवृद्धि का जो अवसर आये, उससे वही आदमी लाभ उठाये जो वास्तव में उसका अधिकारी हो। यदि आप अपने इस कर्त्तव्य

का ध्यान नहीं रखते तो परमात्मा के दरबार में आप अपराधी होंगे। मुझे प्रार्थना-पत्र भेजने की आवश्यकता नहीं। मेरा काम आपके सामने है।"

मैं साधुराम को नेक, परिश्रमी, और आत्माभिमानी पुरुष समझता था, परन्तु वह ऐसा निर्भय और खरी खरी मुँह पर सुनानेवाला भी होगा, इसकी मुझे स्वप्न में भी आशा न थी। उसकी इन बातों ने उसकी पदवी मेरी आँखों में और भी ऊँची कर दी। मैं लज्जित होकर बोला—"साधुराम ! तुमने मेरी आँखें खोल दी हैं। अब भूल न होगी—यह जगह तुम्हीं को मिलेगी।"

साधुराम बोला—"इसका कारण यह तो नहीं कि मेरा आपके यहाँ आना जाना बना हुआ है। यदि यह वेतनवृद्धि मुझे इस कारण से मिलती है, तो मैं इसे कभी स्वीकार न करूँगा। हाँ, यदि सचमुच आप यह समझते हैं कि मेरा काम अच्छा है, और मैं इस वृद्धि के योग्य हूँ, तो दूसरी बात है।"

क्या शब्द थे, मेरे हृदय में तीर से चुभ गये, सिर झुका कर बोला—"मेरा वास्तव में यही विचार है कि इससे पहले तुम्हारे साथ अन्याय होता रहा है। अब यह chance हाथ आया है, इसे न जाने दूँगा।"

साधुराम ने नम्रता से—उस नम्रता से जिसमें आत्म-गौरव का भाव झलकता था—कहा—"Thank you"

अँगरेज़ी सभ्यता के यह दिखावे के शब्द मैंने कई बार सुने थे, और प्रत्येक बार यही अनुभव किया था कि यह निरर्थक हैं—सर्वथा व्यर्थ और निष्फल, परन्तु वही शब्द साधुराम के मुँह से सुन कर ऐसा मालूम हुआ, जैसे किसी को कुबेर का धन मिल गया हो।

दूसरे दिन ग़ुलाम नबी की जगह साधुराम नियुक्त होगया। दफ़्तर में हलचल सी मच गई। सारे क्लर्क साधुराम के शत्रु हो गये। कदाचित् उनका यह विचार था, कि साधुराम काम करने के लिए है, और वह वेतन-वृद्धि लेने के लिए। परन्तु मेरे इस निर्णय ने उनका यह भ्रम दूर कर दिया। अब वह साधुराम को सताने लगे। कोई कहता इससे ज़रा सोच समझ कर बात करना, सुपरिन्टेन्डेन्ट की मूँछ का बाल है। कोई कहता, वेतन-वृद्धि का मूलमन्त्र चापलूसी है, यह साधुराम ने सीख लो है। कोई कहता, हाकिम के बच्चों को मिठाई खिलाई जाय तो हाकिम दयालु हो जाता है। कोई कहता, हम तो इसे बड़ा धर्मात्मा समझते थे, परन्तु यह पता न था कि इस किरण के पीछे ऐसा अन्धकार भी हो सकता है। कोई कहता, मनुष्य की प्रकृति को समझना आसान नहीं, यह बात साधुराम ने सिखा दी। परन्तु साधुराम पर इस आँधी का ज़रा भी असर न पड़ा। वह जिस तरह पहले प्रफुल्ल-वदन, शान्त-स्वभाव, प्रसन्न-चित रहता था, उसी प्रकार अब भी रहता। न उसे पदवृद्धि ने अभिमानी बनाया, न क्लर्कों के

विरोध ने दुखी किया—मेरी आँखों में उसकी प्रतिष्ठा और भी बढ़ गई। ख़याल आया, कैसा पवित्र जीवन है, जो सदा एकरस चला जाता है। शत्रुता का जिस पर कोई प्रभाव नहीं, पक्षपात से रहित, सदैव सब अवस्थाओं में प्रफुल्ल-वदन। जिसके मस्तक पर कभी बल नहीं आता, और जो आत्मसंयम में ऐसा अचल और अटल है, जैसे समुद्र में चट्टान।

(३)

परन्तु यह वृद्धि साधुराम को रास न आई। उसकी स्त्री बीमार रहने लगी। साधुराम में जहाँ और गुण थे, वहाँ उसमें यह गुण भी था कि वह अपनी स्त्री पर प्राण देता था। वह सब कुछ सह सकता था, परन्तु स्त्री की आँख में आँसू देखकर उसके हृदय में हलचल मच जाती थी—वह अधीर हो जाता था। कई मास तक चिकित्सा होती रही, मगर रोग दूर न हुआ। साधुराम घबरा गया, जिस प्रकार तूफ़ान में नौका डोलने लगती है। उसके चेहरे पर वह कान्ति न थी, आँखों में तेज न था। फूल रहगया था, मगर उसका रूप-लावण्य कहाँ उड़ गया? यह किसी को भी मालूम न हो सका। मैं उसे देखता तो हृदय व्याकुल हो जाता। साधुराम अब वह पहला साधुराम न था। वह दफ़्तर में अब भी आता था, काम अब भी करता था, परन्तु वह पहली बात न थी। जिस सन्तोष की मूर्ति ने वेतन-वृद्धि के अवसर हाथ से जाते देख कर मुँह न खोला था, जिस गम्भीर सूरमा ने दफ़्तर के कुर्कों की सर्वथा

अनुचित नोंक-झोंक पर अपनी आन न छोड़ी थी, वही साधुराम अब प्रति-दिन मेरे पास आकर छुट्टी के लिए मिन्नतें करता था। और मैं—हाँ मैं उसके इस परिवर्तन पर प्रसन्न था, क्योंकि मैं उसे देवता नहीं मनुष्य देखना चाहता था। और मानव-चरित्र का गुण है कि बड़े से बड़ा धैर्यधारी हृदय भी एक विशेष सीमा पर पहुँच कर विचलित हो जाता है।

इसी प्रकार कई महीने बीत गये। साधुराम अपनी स्त्री की सेवा-शुश्रूषा में तन्मय हो रहा था। उसका मुँह कुम्हला गया था, हँसी-ख़ुशी मर चुकी थी, फिर भी सेवा-शुश्रूषा में लगा हुआ था। दिन भर दफ़्तर में काम करता, रात के स्त्री के सिरहाने बैठता, स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। परन्तु उसका इधर ध्यान न था। वह अपने प्राणों की सम्पूर्ण शक्ति से अपनी स्त्री की चिकित्सा कर रहा था। मैं उसे प्रायः छुट्टी दे दिया करता था। उस समय उसकी आँखों में कृतज्ञता और बेबसी के भाव कैसे हृदय-भेदी होते थे?

दोपहर का समय था, मैं अपने कमरे में बैठा बिल देख रहा था। इतने में चपरासी ने आकर कहा, "हुज़ूर! लाला सौदागरमल आये हैं।"

लाला सौदागरमल के यहाँ से हम काग़ज़ ख़रीदा करते थे। इस समय उनका आना मुझे बहुत नागुवार गुज़रा। मगर फिर भी चपरासी से कहा—"बुला लो।"

लाला सौदागरमल अन्दर आये, और आते ही बोले, "क्षमा कीजिएगा। मैं एक शिकायत लेकर आया हूँ।"

काग़ज़ का क्रय-विक्रय साधुराम के हाथ था। मैंने हिचकिचाते हुए उत्तर दिया—"कहिए।"

सौदागरमल कुछ क्षण चुप रह कर बोले—"मैं बाहर गया हुआ था। मेरी अनुपस्थिति में आपके क्लर्क साधुराम ने मेरे आदमी से मिलकर जाली बिल बनवा लिया है, और इस उपाय से चार सौ रुपया उड़ा लिया है।"

मुझे ऐसा मालूम हुआ, जैसे किसी ने कलेजे पर कोयले रख दिये हों, कुर्सी से उछल कर बोला—"मुझे विश्वास नहीं होता।"

"बुलवा कर पूछ लीजिए। अभी सब बात खुल जायगी।"

"परन्तु पूछूँ क्या? वह आदमी नहीं देवता है। सारा दफ़्तर उसकी सौगन्ध खाता है। वह मर जाए, पर ऐसा काम कभी न करे।"

"फिर भी तनिक बुलवा तो लीजिए।"

मैंने साधुराम को बुलवाया और उसे सिर से पाँव तक देखते हुए पूछा, "मेरे पास काग़ज़ के सम्बन्ध में कुछ शिकायत पहुँची है। क्या वह सच है।"

साधुराम के मुख का रङ्ग मृतक के समान सफेद हो गया। उसने मेरी ओर इस प्रकार देखा, मानो मैं उसका वध करने लगा था। साथ ही लाला सौदागरमल की ओर देखा। इस दृष्टि में

जो सारे दफ़्तर में सज्जनता की मूर्ति समझा जाता था, जिसका आत्मसम्मान लोगों के लिए आदर्श था, जिसकी नेक-नीयती पर शङ्का करना पाप था, जो सदा अपना सिर ऊँचा उठाकर चलता था, वही देवता इस समय अपराधी अभियुक्त की नाईं मेरे सम्मुख खड़ा था। परन्तु यह पाप—यह अपराध उसने लोभवश नहीं किया, धन की लालसा से नहीं किया। उसे अपनी प्यारी स्त्री की चिकित्सा के लिए रुपये की आवश्यकता थी। वह इस कठिन परीक्षा में फेल हो गया। पर क्या वह अपराधी था? एकाएक मुझे स्मरण हुआ कि ऐसा समय मुझ पर भी आ चुका है। कई वर्ष हुए, मेरी स्त्री बीमार थी। उन दिनों मेरा मासिक वेतन बहुत थोड़ा था। दाल रोटी का ख़र्च भी कठिनाई से चलता था। इस पर घर में बीमारी। हाथ में पैसा तक न रहा। मित्रों से सहायता माँगी, मगर किसी ने परवा न की। निराशा ने अँधेरा फैला दिया। इसी अँधेरे में पाँव धैर्य्य की शिला से फिसलते हैं, और सत्यमार्ग आँखों से ओझल होता है। इसी प्रलय की रात्रि में मनुष्य आयु भर की कमाई लुटा बैठता है, और मोहरूपी डाकू उसे पाप के रस्ते पर डाल देता है। अधिक तेज़ दौड़नेवाला आदमी कभी कभी मुँह के बल गिर जाता है। उस समय मैंने मोह का सामना किया, पर कुछ बन न सका। धर्म्म की बाज़ी हार गया। विचार आया, साधुराम के जीवन में भी वही प्रलय की रात आई हुई थी। अन्तर केवल इतना है

कि इसका दोष प्रकट हो गया है, मेरा अपराध अभी तक छिपा हुआ है। क्या इसी से मुझे यह अधिकार हो गया है कि मैं इसका जीवन नष्ट कर दूँ। मैंने फ़ोन हाथ से रख दिया, स्मृति ने फिर अतीतकाल के दफ़्तर खोल दिये। उस समय मैं कितना सहमा हुआ था। दिन रात यही सोचता रहता था कि यदि मेरी करतूत खुल गई, तो क्या बनेगा? लोग चकित रह जायँगे, कहेंगे, हम तो इसे महात्मा समझे हुए थे। वही अवस्था फिर मेरे सामने थी। मैंने सोचा यदि इसे पुलीस के हवाले कर दिया, तो इसकी बीमार स्त्री का क्या हाल होगा? मेरी आँखों में आँसू झलकने लगे। साधुराम के लिए हृदय में सोया हुआ प्रेम जाग उठा। मैंने लम्बी साँस लेकर सिर उठाया और कहा—"साधुराम! मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ। परन्तु यह रुपया तुम्हें लौटाना होगा।"

डूबते हुए को किनारा मिल गया। साधुराम का चेहरा चमकने लगा, जैसे चाँद बदलियों से निकल आया हो। जो आनन्द फाँसी के तख़्ते पर चढ़ते हुए अभियुक्त को अपनी रिहाई का समाचार सुनने से होता है, वही आनन्द साधुराम को इन शब्दों से हुआ। वह घुटनों के बल बैठ गया, और मेरी ओर अश्रुपरिप्लुत नेत्रों से देख कर बोला—"यह उपकार आयु भर न भूलूँगा।"

(५)

इस घटना को कई वर्ष हो चुके हैं। साधुराम अब भी

मेरे ही दफ़्तर में काम करता है। वह आज-कल १५०) पाता है, और बड़े मज़े में है। उसने अपनी सच्चरित्रता से अपने पाप के कलङ्क को धो दिया है। दफ़्तर के आदमियों की उस पर अटल श्रद्धा है। और इतना ही क्यों, उसकी सज्जनता की धाक सारे नगर पर बैठी हुई है। वह प्रायः मेरे मकान पर आता रहता है। उसे देखकर मेरा हृदय फूल की नाईं खिल जाता है, और मेरे लड़केबाले तो उसे अपना गुरु समझते हैं।

घोर पाप

(१)

दुर्व्यसनों और दुराचारों की आधी रात सौंदर्य के बाज़ार में गुज़ारने के बाद महताबराय गाड़ी में बैठकर अपने घर को रवाना हुए। वह चाहते थे कि प्रभात की सफ़ेदी निकलने से पहले पहले वह उस पाप-कुंज से दूर निकल जायँ, और बनारस का कोई प्रतिष्ठित पुरुष उन्हें वहाँ न देख सके।

रात तीन पहर से अधिक बीत चुकी थी। चारों ओर निस्तब्धता का साम्राज्य था। और वह बाज़ार, जो रात के दस-बारह बजे तक बनारस का सबसे अधिक प्रकाशमय बाज़ार बना रहता है, इस समय लुटे हुए मेले की तरह सुनसान था। हाँ किसी-किसी मकान की मध्यम रोशनी या आवाज़ इस बात का प्रमाण थी कि अभी तक इस घर के रहनेवाले जाग रहे हैं। जैसे आग बुझ जाने के बाद भी कभी-कभी कोई चिनगारी चमक जाती है, उसी प्रकार उस सन्नाटे में किसी-किसी घर से कोई धीमी-सी आवाज़ कभी-कभी सुनाई दे जाती थी।

महताबराय की गाड़ी चल रही थी। उनके चारों ओर अँधेरा था। परन्तु उनका मस्तिष्क अभी तक उसी कलंक-कलुषित कौमुदी के प्रकाश से प्रकाशमान था, जिसके पास से वह उठकर आ रहे थे।

एकाएक गाड़ी एक मोटर से टकराई, और उलट गई। लाला महताबराय ने बचने का बहुत प्रयत्न किया, पर न बच सके। शराब, यौवन और सौंदर्य के मद से मतवाले काँपते हुए हाथ गिरती हुई देह को न सँभाल सके। उनकी उँगलियाँ सड़क की मिट्टी पर से फिसल गईं; और उच्छृंखल घोड़े का एक पैर उनके सिर पर से गुज़र गया। एक हलकी-सी चीख़ हवा में गूँजी, और इसके बाद महताबराय बेसुध हो गये। मोटर के अँगरेज़ मालिक ने, यह सोचे बिना कि कौन गिरा है, और किस तरह गिरा है, सिगार का कश लगाकर अपने शोफ़र से पूछा—"मोटर तो नहीं टूटा?"

शोफ़र ने मोटर से नीचे उतरकर मोटर को अच्छी तरह देखा और उत्तर दिया—"नहीं हुजूर।"

यह सुनकर साहब को धीरज हुआ। बोले—"ये काला लोग बिलकुल गडा के माफक है। हम इस एक्सीडेंट का रिपोर्ट करेगा।"

शोफ़र ने मोटर चला दिया। मोटर अपनी तेज़ चाल से रात के सन्नाटे को तोड़ता हुआ निकल गया। तब कोचवान ने बड़ी कठिनाई से अपने घोड़े को उठाया, और गाड़ी लेकर भाग गया। उसे डर था कि यदि मेरा नंबर नोट हो गया, तो मुझ पर विपत्ति आ जायगी। थोड़ी देर के बाद मोटर और गाड़ी दोनों आमने सामने के अँधेरे में लोप हो गये।

महताबराय वहीं सड़क पर बेसुध पड़े थे, उनके सिर से लहू बह रहा था, और उनके चारों ओर रात का अँधेरा और सन्नाटा था।

गाड़ीवाले को थोड़ी दूर जाकर एक दूसरा गाड़ीवाला मिला। उसने उस दूसरे कोचवान को न देखा, न देखने का प्रयत्न किया। उसको भय था, कहीं वह मुझे पहचान न ले। वह अपनी आवाज़ को बदलकर, और अपने मुँह को छिपाकर, ज़ोर से बोला—"ज़रा बचकर जाना। रस्ते में एक आदमी बेहोश पड़ा है। कहीं नीचे आकर कुचला न जाय।"

इस दूसरी गाड़ी में बनारस की सबसे सुन्दर प्रसिद्ध रंडी तारा सवार थी, जिसके रूप-लावण्य ने थोड़े ही दिनों में दाल-मंडी के एक सिरे से दूसरे सिरे तक सब रसिक लोगों को अपना मतवाला बना लिया था, और जिसके कोकिला के समान मधुर स्वर ने व्याकुल-हृदयों में आग लगा दी थी। परन्तु उसके पवित्र भाव सर्वथा मर चुके हों, यह बात न थी। उनमें अभी तक जीवन का कुछ अंश बाक़ी था। महताबराय को इस बेबसी में देखकर उसके हृदय में एक कसक-सी लगी। स्वाभाविक करुणा एकाएक जाग उठी। जैसे रात के सन्नाटे में बाल्यावस्था में सुने हुए किसी संगीत की तान कभी-कभी सुनाई दे जाती है। उस तान में कैसा आकर्षण होता है, कैसी मोहनी-शक्ति! उसे सुनकर नींद खुल जाती और बीते हुए दिन आँखों-तले फिर जाते हैं। यही दशा तारा की हुई। महताबराय की

बेबसी ने उसके नारी-हृदय की सोई हुई करुणा को जगा दिया। उस करुणा को, जो बचपन, और केवल बचपन की अबोध और पुण्य-मय अवस्था ही में दिखाई दे सकती है ! महताबराय अपने आपको कलंकित कर चुके थे। परन्तु यह बात उनके मुख पर से प्रकट न होती थी। उनके मुख पर अभी तक वही सरलता थी, वही भोलापन, जो भले लोगों की संपत्ति है। जड़ों में कीड़ा लग चुका था; परन्तु अभी तक वृक्ष की हरियावल में अंतर न आया था। तारा ने अपने नौकर की सहायता से महताबराय को गाड़ी में डाला, और उन्हें अस्पताल ले चली।

(२)

कितना अंतर था। तारा की सोई हुई सद्भावनायें जाग उठीं। उसे स्वयं अपने से, अपने कर्म से, अपने घर से, उस घर की विलास-सामग्री से, घृणा होने लगी। महताबराय की मा-बहन और स्त्री की पवित्रता, लज्जा और सच्चरित्रता ने उसके घृणित जीवन को उसकी दृष्टि में और भी घृणित कर दिया, जैसे काली वस्तु सफ़ेद वस्तु के सामने आकर अधिक काली प्रतीत होती है। वह बाल्यावस्था ही से सौंदर्य का सौदा करनेवाली सृष्टि के जल-वायु में पली थी। इसलिए इससे पहले उसे भले घर का भला जीवन देखने का अवसर न मिला था। उसे यह भी मालूम न था कि पत्नी-भाव क्या और कैसा होता है ? वह दौलत की हरजाई बेटियों में उत्पन्न हुई,

निर्लज्जता की गोद में पली और पाप के आँगन में बड़ी हुई। महताबराय के घर की स्त्रियों की सद्भावनाओं और नेकियों ने उसके हृदय में हलचल मचा दी। जब महताबराय की स्त्री अपने रोगी पति की ओर देखकर अपने देवियों जैसे लज्जा से काँपते हुए हाथ उनके मस्तक पर फेरती थी। जब उनकी माता अपने बेटे की ओर ऐसी दृष्टि से, जो तारा ने इससे पहले कभी न देखी थी, देखती थी। जब उनकी बहन उस प्रेम से, जिसमें स्वार्थ, बनावट या थकन की छाया तक न थी, सेवा करती थी, तो तारा के हृदय पर इतना प्रभाव पड़ता था कि वह अपने आप को भूल जाती और सच्चे आनंद में झूमने लग जाती थी। कभी-कभी तो उसे संदेह होता था कि वह किसी नई दुनिया में पहुँच गई है। वह सोचती थी, क्या इस स्वार्थमय लोभी संसार में यह भी हो सकता है? उसके सामने एक नया संसार खुल गया। यह संसार कैसा सुन्दर, कैसा पवित्र था? इसमें प्रेम के और आत्मबलिदान के फूल थे, पर कपट के काँटे न थे। यहाँ दिन का प्रकाश था, पर रात्रि का अंधकार न था। जिस प्रकार उस मनुष्य को, जो दूध के धोखे में सदा छाँछ पीता रहा हो, अकस्मात् एक दिन दूध पीकर अपने अतीत दुर्भाग्य का अनुभव होता है, ठीक उसी प्रकार तारा को प्रेम का यह सच्चा और पवित्र दृश्य देखकर अपने दुर्दैव का ध्यान आया। हृदय में किसी ने भाला चुभो दिया। दिन-रात सोचने लगी। वह चाहती

थी, किसी प्रकार बीता हुआ समय वापस आ जाय। परन्तु आँख से गिरा हुआ आँसू और कमान से निकला हुआ तीर कब वापस आया है! धीरे-धीरे उसने उस मनुष्य की तरह, जो अपनी जन्म की निर्बलता को अपने बाहु-बल से पूरा करना चाहता है, इस पतित अवस्था से ऊपर उठने का निश्चय कर लिया। बात साधारण न थी। तारा के हृदय में कई दिन तक हलचल मची रही। ऐसी हलचल किसी राजा के हृदय में अपना राज्य छोड़ते समय भी न मची होगी। तारा सोचती थी, मैं क्या करूँगी? परन्तु महताबराय की बहन और स्त्री की सहानुभूति ने कठिनता आसान कर दी। उन्होंने कहा—"चिन्ता न करो। हम तुम्हारा प्रबंध कर देंगी। तुम भूखों न मरने पाओगी।"

तारा ने यह सुना, तो ऐसी खुश हुई, जैसे जलती हुई दुपहर में किसी प्यासे को मीठे जल का स्रोत दिखाई दे जाय।

(३)

आठ दिन बीत गये। महताबराय अब पहले से अच्छे थे; पर अभी तक अस्पताल में थे। एक दिन सवेरे तकिया लगाये बैठे थे, और अपनी बहन किशोरी से धीरे-धीरे बातें कर रहे थे। इतने में उनकी आँख दरवाज़े की ओर गई। वहाँ तारा खड़ी थी। उन्होंने उसे देखा, और कुछ देर के बाद अपनी दुर्बल उँगली से उस ओर इशारा करके पूछा—"वह कौन है?"

किशोरी, महताबराय की बहन ने उत्तर दिया—"यह वह स्त्री है, जिसने तुम्हारे प्राण बचाये हैं।"

महताबराय काँपकर बोले—"वह समय जब याद आता है, तो आँखों-तले अँधेरा छा जाता है। परमात्मा ने बचा लिया। यह स्त्री उस समय उधर न आती, तो क्या होता?"

"अब इस बात का ज़िक्र न करो।"

"कैसा विकट समय था?"

"याद आते ही कलेजा काँप जाता है।"

"परन्तु यह स्त्री कौन है, यह तुमने न बताया।"

किशोरी ने थोड़ी देर के बाद कहा—"कोई हो, पर उसने हम पर जो उपकार किया है, वह थोड़ा नहीं है।"

"यह कौन कहता है, उसने मुझे नया जीवन दिया है।"

"जीवन-भर सिर न उठा सकेंगे।"

"परन्तु वह है कौन?"

"उसने तुम्हारे प्राण बचाये हैं।"

"यह उस समय घर से बाहर कहाँ जा रही थी?"

किशोरी ने इस तरह, जैसे सुना ही नहीं, कहा—"अब कभी रात को घर से बाहर न निकलना। अँधेरे में ऐसी घटनाएँ प्रायः हो जाया करती हैं। कोई पुण्यकर्म सामने आ गया, जो इस स्त्री की दृष्टि पड़ गई, नहीं तो काशी के लोग मरते के मुँह में पानी नहीं डालते।"

महताबराय ने आकाश की ओर देखते हुए ठंडी साँस भरी, और उत्तर दिया—"इस घटना ने मेरी आँखें खोल दीं। परन्तु काम होने पर घर से बाहर निकलना ही पड़ता है।"

"बाबा, तुम्हारे कामों ने मार डाला। अब भी न सँभलोगे ?"

किशोरी की आँखों में आँसू थे, आँसुओं में विकलता। इन आँसुओं का मूल्य वही समझ सकता है, जिसके अपनी बहन हो। महताबराय ने उन आँसुओं को देखा तो व्याकुल, हो गये; बोले—"अच्छा ! अब न निकलूँगा, कभी न निकलूँगा।"

"हँसी करते हो।"

"नहीं किशोरी, मैं सच्चे दिल से कह रहा हूँ।"

"जानते नहीं हो, तुम्हारा मुँह देख-देखकर सारा घर जीता है।"

"अब से कान को हाथ लगाया।"

"थोड़ा संकट दिखाया है तुमने ? यह तुम्हारा दूसरा जन्म है !"

"अब बताओ, यह स्त्री कौन है ?"

"एक दुखिया है।"

"क्या ग़रीब है ? मैं इसे मुँह-माँगा धन दूँगा। यह भी क्या कहेगी !"

"यह रुपये से सुखी न होगी।"

"तो इसे क्या दुख है, मैं उसे दूर करने के लिए प्राण तक दे दूँगा।"

किशोरी को भाई के इन शब्दों पर कदाचित् संदेह था; धीरे से बोली—"प्रतिज्ञा करते हो?"

"हाँ, प्रतिज्ञा करता हूँ।"

"और पूरी करोगे?"

"मेरे शब्दों पर आज तक किसी ने संदेह नहीं किया।"

यह कहते-कहते उनका मुँह लाल हो गया, आँखों में क्रोध झलकने लगा। इस समय तक गंगेश्वरी, महताबराय की पत्नी, एक ओर बैठी थी। इस सारी बात-चीत में वह न बोली थी। परन्तु अब वह चुप न रह सकी। ननद की ओर तीखी आँखों से देखकर बोली—"तुम ऐसी-ऐसी बातें क्यों करती हो? देखतीं नहीं, कैसी बीमारी से उठे हैं। इस तरह क्रोध करेंगे, तो फिर बीमार हो जायँगे। एक बार कह दिया, प्रतिज्ञा की, अब तुम्हें विश्वास ही नहीं आता। बहुत बोलने से सिर-दर्द होने लगेगा।"

किशोरी के हृदय में बाण सा लगा। झल्लाकर बोली—"आप जब दो-दो घंटे बातें करती रहती हो, तब सिर-दर्द नहीं होता। मेरी दो बातों से सिर-दर्द होने लगेगा। बहुत अच्छा भाभी! मैं अब न बोलूँगी, बोलूँ तो जीभ काट लेना।"

"तुम तो यों ही बुरा मानती हो।"

"सिर फिरा हुआ है।"

"अब बात करना भी अपराध हो गया।"

"मैं बाहर चली जाती हूँ, नहीं तो सिर-दर्द होने लगेगा।"

यह कहकर किशोरी बाहर निकल गई। बाहर तारा खड़ी थी। उसने किशोरी का हाथ पकड़कर पूछा—"क्यों कुछ नाराज़ मालूम होती हो, क्या बात है?"

इतने में गंगोत्तरी बाहर आ गई; और बालकों की नाईं किशोरी के गले में भुजायें डालकर बोली—"तुम रूठी जाती हो। परन्तु मैं न रूठने दूँगी।"

किशोरी का क्रोध उतर गया; परन्तु उसने मुँह फुलाकर उत्तर दिया—"मैंने कान पकड़े। अब उस कमरे में ज़बान न खोलूँगी।"

पास से कोई आदमी जा रहा था। उसे देखकर गंगोत्तरी ने मुँह पर घूँघट खींच लिया। परन्तु जब वह चला गया, तो किशोरी के गले से फिर लिपट गई, और बोली—"तुम न खोलना, मैं आप खोल लूँगी।"

यह कहकर गंगोत्तरी ने किशोरी के मुँह में उँगली डालकर उसकी जीभ पकड़ ली, और हँसने लगी। तारा की आँखों में आँसू आ गये। कैसा प्यार है, कैसी बच्चों की-सी पवित्र चंचलता; एक-एक कटाक्ष प्रेम के रस में सना

हुआ था। क्या इस प्रेम के अमृत से तारा को कोई घूँट न मिलेगा ?

(४)

एकाएक गंगोत्तरी ने चौंक कर सिर उठाया, जैसे किसी को कोई भूली हुई बात याद आ जाती है, और किशोरी का हाथ पकड़कर कहा—"चलो, तुम्हें बुला रहे हैं।"

इशारा महताबराय की ओर था। किशोरी अब न रुक सकी। प्रेम के पैरों में ज़ंजीरें किसने डाली हैं। वह जल्दी-जल्दी महताबराय के कमरे की ओर रवाना हुई। तारा ने रस्ता रोककर पूछा—"मेरा काम ?"

"अब इसी का ज़िक्र करूँगी। चिन्ता न करो।"

तारा ने पूछा—"हो जायगा ? तुम्हें आशा है ?"

गंगोत्तरी ने उत्तर दिया "कमेटी के मेंबर हैं। कौंसिल में जाते हैं। कई पाठशालाओं के सभापति हैं। क्या तुम्हारा इतना-सा काम भी न कर सकेंगे ?"

परन्तु तारा के हृदय में जैसे कोई कह रहा था कि यह काम न हो सकेगा। उसके पास रुपये की कमी न थी। वह यदि चाहती, तो सारी आयु सुख से व्यतीत कर देती। परन्तु वह उस रुपये को किसी अपने काम में लाना नहीं चाहती थी। वह अब उसकी आँखों में खटकने लगा था। सोचती थी, पाप की कमाई है, इससे मेरा भला न होगा। वह अब नेक कामों की कमाई खाना चाहती थी। उसने किशोरी

और गंगोत्तरी से कई बार कहा था, मुझे किसी पाठशाला में सिलाई का काम सिखाने पर नौकर करा दो, मैं इसी से पेट भर लूँगी और यदि यह भी न हो, तो अपने यहाँ बर्तन साफ़ करने पर रख लो। यह मेरे पापों का प्रायश्चित्त हो जायगा। गंगोत्तरी कहती, लड़कियों के लिए बाजा सिखाने का स्कूल खोल दो। परन्तु तारा उत्तर देती, यह न होगा। जब इस काम को छोड़ दूँगी, तो बाजा-तबला भी साथ ही छोड़ दूँगी, क्योंकि इससे छोड़ा हुआ जीवन फिर याद आ जाता है।

हृदय की बात हृदय में गड़ जाती है। किशोरी और गंगोत्तरी, दोनों पर अमर हो गया। उन्हें विश्वास हो गया कि तारा सन्मार्ग पर चलने के लिए अधीर हो रही है। उसकी सहायता को दोनों तैयार हो गईं।

महताबराय ने किशोरी को कमरे में आते देख कर करवट बदल ली, और पूछा—"बताओ, मुझे क्या करना होगा? मैं उसकी सहायता को सब प्रकार से तैयार हूँ।"

किशोरी पलँग के पास भूमि पर बैठ गई, और धीरे से बोली—"वह वेश्या है।"

महताबराय पलँग से उछल पड़े, जैसे कोई अनहोनी बात सुनकर उछलता है। मुख पर व्याकुलता-सी झलकती थी। इस वाक्य ने उनके शान्त हृदय में हलचल मचा दी। वह चारों ओर इस तरह देखने लगे, जैसे उनसे कोई अपराध हो गया हो।

किशोरी ने फिर कहा—"वह वेश्या है। परन्तु अब यह कुकर्म छोड़ना चाहती है। उसे कहीं नौकरी दिला दो, किसी पाठशाला में, अस्पताल में, आश्रम में। वह कम-से-कम वेतन में निर्वाह कर लेगी। परन्तु वह नेक बनना चाहती है। पाप से उसे घृणा हो गई है। उसको सहारा दो, वह अबला है।"

"परन्तु वह वेश्या है!"

"दिन-रात उदास रहती है। उसका कहीं ठिकाना बना दो। आजीवन आसीस देती रहेगी।"

"रुपये देने से काम न चल सकेगा?"

किशोरी ने स्वाभाविक कटाक्ष से सिर हिला कर कहा—"नहीं, वह अपने हाथ की कमाई खाना चाहती है।"

महताबराय किसी गहरी चिन्ता में डूब गये। थोड़ी देर के बाद उन्होंने ठंडी साँस भर कर कहा—"बहुत कठिन है।"

किशोरी को यह आशा न थी कि महताबराय ऐसी चिन्ता में पड़ जायँगे; मिन्नतें करती हुई बोली—"यह काम तुम्हें करना ही होगा। जब से तुम्हारा आपरेशन हुआ है, दिन-दिन-भर यहीं बैठी रहती है। उसका चेहरा पहले से आधा भी नहीं रहा।"

महताबराय के दिल पर दूसरा चरका लगा—"दिन-दिन-भर बैठी रहती है क्या?"

"और रोती रहती है?"

"यहां—इसी दरवाजे पर?"

"उसका रोना देखा नहीं जाता।"

"यहाँ रोज़ आती है ? इस अस्पताल में ? मेरे इस कमरे में ? किशोरी तुम यह क्या कह रही हो ?"

"हाँ रोज़ आती है, और अपने पहले जीवन पर पश्चात्ताप करती है।"

महताबराय ने तकिया पीठ के पीछे रखकर जोश से कहा, "लोग क्या कहेंगे ? मैं बदनाम हो जाऊँगा। उससे कह दो, यहाँ न आया करे।"

(५)

तारा दरवाज़े के पास खड़ी यह बातचीत सुन रही थी। महताबराय के अन्तिम शब्द सुनकर उसे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे पैरों-तले से मिट्टी निकल रही हो। आँखों के आँसू गालों पर बहने लगे। वह रोती हुई उठी, और गाड़ी में बैठ कर अपने मकान को चली गई। इस समय दुनिया उसकी आँखों में अंधेर हो रही थी। वह अपने हृदय के पूरे बल से सोचती थी, परन्तु उसे सन्मार्ग दिखाई न देता था। मेरी कौन सहायता करेगा ? इस रस्ते में मेरा हाथ कौन थामेगा ? यह विचार उसका साहस तोड़ रहे थे। यह वही तारा थी; हाँ यह वही तारा थी, जिसने अपने सौंदर्य के शस्त्र से सैकड़ों नवयुवकों के दिल लूट लिये थे। आज वह सर्वथा विवश, सर्वथा निराश्रित थी। उसे अब अपने ऊपर तनिक भी भरोसा न था। बुराई कितनी

आसान, कितनी निर्भय है ? और उसके विपरीत भलाई कैसी बेबस, कितनी दुर्बल है। मनुष्य बुराई की ओर जाना चाहे, सहस्रों सहायता देनेवाले निकल आते हैं, भला बनना चाहे, एक भी आगे नहीं बढ़ता । कोई सज्जन बदमाश हो जाय, समाज चुप रहता है। परन्तु बदमाश आदमी भला होना चाहे, तो लोग सहन नहीं कर सकते।

तारा अपने मकान पर पहुँची, और बिलख बिलख कर रोने लगी। इस समय उसका रोना उस बालक के रोने के समान था, जो मार खा सकता है, पर झिड़कियाँ नहीं सह सकता। उसे महताबराय पर रह-रहकर क्रोध आ रहा था। सोचती थी, मैं लाख बुरी हूँ, परन्तु उनसे तो भलाई ही की है। उन्हें यों मुँह फाड़ कर न कहना चाहिए था । मैंने उनका जीवन बचाया है, नहीं तो मरने में क्या कसर थी ? और अब मैंने उनसे रुपया नहीं माँगा, मकान नहीं माँगा, माँगी है नेक बनने में सहायता। क्या बुरा किया ? परन्तु उनको बदनामी का ख़याल है, मेरा ख़याल नहीं। जैसे समाज उनको घर से बाहर निकाल देगा ! अस्पताल अपने स्वार्थ के लिए न जाती थी, उन्हीं के हित के लिए जाती थी। अब कभी वहाँ पैर भी न रक्खूँगी। निर्लज्ज अवश्य हूँ, परन्तु आत्म-सम्मान से ख़ाली नहीं हूँ।

सहसा विचारों ने पलटा खाया। भले मनुष्य हैं, सारे शहर में जस है। बाज़ार में निकलते हैं तो लोग हाथ बाँधकर

खड़े हो जाते हैं ! सरकार भी मानती है। उनके यहाँ मेरे आने जाने से सचमुच उनको कलङ्क लग जाता। लोग कहते, नेक बना फिरता था सारी क़लई खुल गई। वेश्या ख़बर लेने बिना किसी कारण के थोड़े ही आती है। अवश्य दाल में कुछ काला होगा। हमने लोक-परलोक दोनों बिगाड़ लिये, सारा संसार यह कैसे कर ले। नेक बनने में सारी आयु लग जाती है, बदनाम होने में एक दिन भी नहीं लगता। ऊपर चढ़ना कैसा कठिन है ? इसमें कितना समय लगता है ? परन्तु गिरना तो सहज है। इसमें कुछ परिश्रम नहीं करना पड़ता; शरीर को ढीला छोड़ा और बस, बाक़ी काम अपने आप हो जाता है। उन्होंने अपने को देखा, क्या बुरा किया। मेरी भी बुद्धि जाती रही जो उन्हें बुरा कह रही हूँ।

इतने में नायका अन्दर आई। तारा ने चौंक कर सिर उठाया, और फिर इस प्रकार, जैसे उसकी दशा करुणास्पद हो, उसकी ओर देख कर पूछा—"क्यों ? क्या है ?"

"लाला घनश्यामदास आये हैं।"

"कह दो, इस वक्त तबिय्यत ख़राब है।"

नायका चकित रह गई। उसे अपने कानों पर विश्वास न हुआ। घनश्यामदास बनारस के प्रसिद्ध रईस राय साहब परमेश्वरीदास का बेटा था। बड़ा ही सुन्दर और सुडौल। उसका रूप देख कर भूख मिटती थी। जब तक राय साहब जीते थे, तब तक उनकी देख-रेख होती थी। परन्तु उनकी मृत्यु ने घनश्याम-

दास के पर खोल दिये। अब उसे कोई रोकनेवाला न था। दालमंडी में आना-जाना शुरू हुआ। सुन्दरता के मोती परखे जाने लगे। उसकी प्रकृति में पाप था, आँखों में लालसा। दालमंडी की रंडियां में हलचल मच गई। उनमें से हर एक यही चाहती थी कि किसी प्रकार यह कबूतर फँस जाय। तारा ने भी हाव-भाव और कटाक्षों के जाल बिछा दिये। घनश्यामदास के गुज़रने का समय होता, तो विशेष रूप से सज-सजाकर चुबारे में आ बैठती। आँखें चार होतीं, तो मुस्कराती और नयनों के तीर चलाती। सोचती, वह दिन कब आएगा, जब यह मतवाला साहूकार मेरी सीढ़ियों पर पैर रक्खेगा। परन्तु आज वह उसके मकान पर था।

मगर इससे तारा को प्रसन्नता न हुई। दूसरा समय होता, तो वह आनन्द से पागल हो जाती; परन्तु अब उसका हृदय बदल चुका था। उसने ठंडी साँस भरी, और निश्चयात्मक रूप से बोली—"कह दो, इस वक्त तबिय्यत ख़राब है।"

नायका ने समझा, कदाचित् तारा पागल हो गई है। उसने उसे समझाने की चेष्टा की। परन्तु तारा ने हाथ के इशारे से उसे चुप कर दिया, और फिर चुपचाप रोने लगी।

उधर किशोरी और गंगोत्तरी में लड़ाई हो रही थी—"महताबराय ने अच्छा नहीं किया, बेचारी का दिल तोड़ दिया। लाख बुरी हो, परन्तु नेक बन कर रहे, तो क्या बुरा है।"

गंगोत्तरी कहती थी–"जानती नहीं हो, दूर-दूर तक इनका नाम है। और काशी के लोग तो इन्हें देवता समझते हैं। वह क्या कहेंगे ? तुम क्या चाहती हो, एक वेश्या के लिए बदनाम हो जायँ ? और उसके मन की कौन कहे—'जप-तप करने चली बिलैया नौ-सौ चूहे खाय के।' सारी आयु कोयलों में खेलती रही, आज साबुन का शौक़ चर्राया है।"

किशोरी पूछती थी—"यह उसके उपकार का बदला है शायद ?"

गंगोत्तरी उत्तर देती थी—"रुपये चाहे तो ले लें, पर मान-प्रतिष्ठा तो न देंगे।"

किशोरी कहती थी—"उसे रुपयों की आवश्यकता कब है ? वह तो उनसे हाथ पकड़ने की सहायता चाहती थी। परन्तु पता लग गया; उनमें कुछ भी साहस नहीं। केवल समाचारपत्र पढ़ना जानते हैं ?"

हम इतना बुराई से नहीं डरते, जितना बदनामी से डरते हैं। बदनामी का डर न हो, तो संसार में पापों की संख्या कई गुनी बढ़ जाय। परन्तु जहाँ बहुत-से लोग बदनामी के विचार से नेक बनने पर बाध्य हैं, वहाँ कई लोग बदनामी के डर से घोरतर पाप करने को भी तैयार हो जाते हैं। लाला महताबराय मूर्ख न थे। वह जानते थे कि तारा का हृदय नेकी की ओर झुका हुआ है। वह यह भी चाहते थे कि तारा सन्मार्ग में जीवन व्यतीत करे। परन्तु इसके लिए

वह थोड़ा-सा त्याग न कर सकते थे। अपने लिये पाप करते थे; मगर तारा के हित के लिए भलाई करना भी कठिन हो गया। दूसरे दिन उन्होंने अपने दरवाज़े पर फिर तारा का निराश मुख देखा; और फिर अपनी बहन से उसी तरह कहा—"किशोरी, लोग क्या कहेंगे? मैं बदनाम हो जाऊँगा। उससे कह दो, यहाँ न आया करे।"

(६)

तारा को विश्वास हो गया कि इनसे मेरी सहायता न हो सकेगी। जिनको मैं जल की तरंग समझती थी, वह जलता हुआ रेतीला मैदान है। मृगतृष्णा से प्यास नहीं बुझ सकती। तारा की आँखें सजल हो गईं। वह गाड़ी में बैठकर अपने मकान को चली गई, परन्तु उसके विचार न बदले। वह अपना घृणित व्यवसाय छोड़ने पर तुली हुई थी। अब उसे न गाने-बजाने का शौक़ था, न हँसने-खेलने का। यौवन की उमंगों के स्थान पर वैराग्य और निराशा छाई हुई थी। आँखों से आँसू गिरते रहते थे। न वस्त्र बदलती थी, न बाल सँवारती थी। स्त्री का गर्व उसका रूप है, रूप का शृंगार। तारा ने एक साथ दोनों त्याग दिये। यहाँ तक तक कि पंद्रह दिन बीत गये।

संध्या-समय था। सौंदर्य के बाज़ार में प्रेम का जमघट लगा था। चौबारों में से आँखें झाँकती थीं, उनमें अभिमान था। बाज़ार से आँखें देखती थीं, उनमें लालसा

थी। इन दोनों के बीच में लज्जा खड़ी थी, नहीं तो सौंदर्य और प्रेम का आलिङ्गन हो जाता। परन्तु सौंदर्य इस लज्जा को अपने लगातार कटाक्षों से परे हटाने की चेष्टा कर रहा था। और जब कभी वह सफल हो जाता, तो लज्जा के होंठ नीले हो जाते थे, और प्रेम के प्रवाह में हलचल मच जाती थी।

हर एक बैठक पर रौनक़ थी। हर एक बैठक में प्रकाश था। परन्तु तारा के मकान पर उदासी छाई हुई थी, जैसे उसके यहाँ कोई मर गया हो। कभी उसके चौबारे में सबसे बढ़-कर रौनक़ होती थी। तारा अपने कमरे में बैठी उन दिनों को याद करती और ठण्डी साँसें भरती थी। पापों की स्मृति पापों से अधिक भयानक होती है। उसे अब उस मकान से डर लगता था। चाहती थी, इस मकान के सामान को आग लगा दूँ, और कहीं निकल जाऊँ। परन्तु विचार आया, कहाँ जाऊँ? मुझे कोई भला पुरुष अपनी ड्योढ़ी में पैर भी न रखने देगा। आज तक लाल आँखें नहीं देखीं, यह अपमान कैसे सहूँगी? इस विचार से वह इस तरह सहम जाती थी, जैसे हिरनी सिंह से। पाप करना इतना कठिन नहीं, जितना उसे छोड़ना। उसके लिए निर्लज्जता की आवश्यकता है, इसके लिए अचल धैर्य की। मनुष्य निर्लज्ज बन सकता है; परन्तु धीर बनना सुगम नहीं।

एकाएक पैर की आहट सुनाई दी। तारा ने सिर उठाया, तो सामने गुलनार खड़ी थी। वह भी वेश्या थी। उसे देखकर तारा की आँखें सजल हो गईं, जिस प्रकार रोगी किसी संबंधी के आने से रोने लगता है। तारा का मलिन वेष और रूखे बाल देखकर गुलनार के कलेजे में तीर-सा चुभ गया। कुछ देर तक चुपचाप खड़ी रही, फिर बोली—"तारा! यह तुमने क्या हाल बना लिया?"

तारा ने भूमि की ओर देखते हुए उत्तर दिया—"परमात्मा करे मेरा अब यही हाल बना रहे।"

"लिबास और ज़ेवर क्या हुए?"

"उन्हें देखकर आग लग जाती है।"

"तुम्हारा चेहरा पहले से आधा भी नहीं रहा।"

"स्त्री के लिए मुँह की सुन्दरता ही सब कुछ नहीं।"

"इस वक्त को पछताओगी। फिर यह हाथ न आएगा।"

तारा ने एक विचित्र दृष्टि से गुलनार की ओर देखा, और कहा—"मेरा हृदय इस पापमय जीवन से दुखी हो गया है।"

"तो यह कहो, अब जोगन बनने का इरादा है!"

"जोगन क्या बनूँगी, नारी बनने की इच्छा है।"

गुलनार ने कुछ सोचा, और फिर पूछा—"मगर क्यों?"

तारा ने आँखें बन्द कर लीं; मानो किसी भूले हुए मनोहर दृश्य का ध्यान आ गया; और कहा—"इसलिए कि मैंने

पतिव्रता स्त्री, सच्चरित्रा बहन और पुण्यात्मा पति का जीवन देखा है।"

गुलनार ने तारा का हाथ अपने हाथ में लेकर कहा—"वह कौन-सा पुण्यात्मा पति है, जिसके जीवन ने तुम्हें बदल दिया। ज़रा उसका नाम तो लो, मैंने भी बनारस में ज़िन्दगी गुज़ारी है।"

तारा रुक-रुक कर बोली—"उनका नाम लाला महताब-राय है। बड़े ही भले आदमी हैं।"

गुलनार जोश से केले के पत्ते की नाईं काँपती हुई बोली—"कौन महताबराय ?"

"गाड़ी के नीचे आ गये थे।"

"कलाई पर घड़ी बाँधे रहते हैं ?"

"हाँ वही।"

"बड़े अमीर हैं ?"

"क्या तुम उन्हें जानती हो ?"

गुलनार ने मुस्कराकर मुँह फेर लिया, और कहा—"मुझसे पुरानी मुलाक़ात है।"

तारा के कलेजे में जैसे किसी ने भाले की नोक चुभो दी। तड़पकर बोली—"गुलनार ! मुझे धोखा न देना।"

"आज रात को मेरे मकान पर आ जाओ, तो आँखों से दिखा दूँ।"

"पर मुझे विश्वास नहीं आता।"

"आज रात को आ जायगा। तुम तैयार रहना।"

(७)

रात के बारह बजे तारा गुलनार के मकान पर पहुँची। इस समय उसका मुख उदास था, आँखें निस्तेज। उसकी दशा उस विद्यार्थी के समान थी, जिसे फ़ेल होने का खटका लगा हो। उसने महताबराय के प्रश्न को अपना प्रश्न बना लिया था। गुलनार ने उसे अपने पास बिठा लिया; और पाप के पाठ पढ़ाने लगी; परन्तु तारा का ध्यान इस ओर न था। उसके कान बाज़ार की ओर लगे थे और वह उस समय की बाट देख रही थी, जब—

इतने में बाहर किसी गाड़ी की गड़गड़ाहट सुनाई दी, और दरवाज़े पर आकर मर गई, जिस प्रकार किसी वेश्या के मकान पर आकर नेकी मर जाती है। गुलनार ने अपने गले का हार ठीक करते हुए तारा से कहा—"उस परदे के पीछे छिप जाओ; और अपने शरीफ़-बदमाश का तमाशा देखो।"

यह कहते-कहते उसने तारा को परदे के पीछे ढकेल दिया।

पैरों की आहट सुनाई दी; तारा के प्राण होंठों तक आ गये। वह घुटनों के बल झुक गई, और अपनी आँखों में आँसू भर कर बोली—"परमात्मा करे, यह वह न हों। नहीं तो मुझे जो श्रद्धा समाज और मनुष्यत्व पर है, वह न रहेगी।"

परन्तु परमात्मा ने उसकी प्रार्थना न सुनी।

कोई पुरुष दरवाज़े के अन्दर आया, और उसने ऐक्टरों की तरह झुककर कहा—"सरकार—तस्लीम !"

तारा के शरीर से पसीना बहने लगा—यह वही थे।

गुलनार ने भौंह चढ़ाकर उत्तर दिया—"जाइए लाला साहब ! इतना ज़माना गुज़र गया, एक पैग़ाम तक न भेजा गया। अगर आपकी बदनामी का ख़याल न होता, तो पंद्रह दफ़ा अस्पताल आती।"

लाला महताबराय ने हाथ बाँधे, और कहा—"अब यह ग़लती न होगी। इस दफ़ा माफ़ कर दीजिए।"

यह कहते-कहते उन्होंने गुलनार के दोनों हाथ अपने हाथों में पकड़ लिये, और उसे अधीरता से अपनी ओर खींचा।

अब तारा न रह सकी। सहसा उसने परदा हटाया, और बाहर निकल आई।

महताबराय सन्नाटे में आ गये। वह कभी गुलनार की ओर देखते थे, कभी तारा की ओर, और वास्तविक मर्म को समझने का यत्न करते थे। गुलनार की हँसी रोके न रुकती थी; परन्तु तारा की आँखों से आग की चिनगारियाँ निकलती थीं। उसने आगे बढ़कर अपने दोनों हाथ महताबराय के दोनों कंधों पर रख दिये। अपनी आँखें उनकी आँखों में डालीं और कहा—"लोग क्या कहेंगे ? मैं बदनाम हो जाऊँगा। उससे कह दो, यहाँ न आया करे।"

महताबराय पर वज्र-पात हुआ। तारा देखते देखते बाहर निकल गई।

अब वह फिर बदल चुकी थी।

उसने अपने मकान पर पहुँचकर अपना लिबास बदला, आभूषण पहने, बाल सँवारे, मुँह पर फ़ेस-क्रीम मला, और फिर शीशे के सामने खड़ी होकर अपना रूप-सौंदर्य देखने लगी।

अब वह फिर वही तारा थी। वही दालमंडी की प्रसिद्ध तारा, वही सदाचार और सच्चरित्र की लूटनेवाली तारा, वही सभ्यता की शत्रु तारा। अब फिर उसकी आँखों में वही मद था, मुख पर वही विषमय सौंदर्य। वह अपने आपको शीशे में देखकर हँसने लगी कि इतने दिनों कैसे मूर्ख बनी रही। इतने में नायिका अंदर आई, और इस काया-पलट को देखकर चकित रह गई। उसने धीरे से कहा—"लाला घनश्यामदास आये हैं।"

तारा के रोम-रोम में हर्ष की लहर दौड़ गई। उसने अपने सिर के बालों को माथे पर मरोड़ते हुए कहा—"उनसे कहो, तशरीफ़ रक्खें। मैं अभी हाज़िर हुई।"

तारा मुँह में पान रखकर अपने शरीर को निर्लज्जता के कटाक्ष से हिलाती हुई और होंठों पर वेश्याओं की-सी मुस्कराहट लिये हुए उस कमरे के अंदर आई, जहाँ लाला घनश्यामदास बैठे उसकी राह देख रहे थे।

उस रात महताबराय ने स्वप्न में देखा कि कोई दिव्य ज्योति उनसे कह रही है—अरे पापी मूर्ख मनुष्य ! तूने अपनी स्त्री, बहन और मां के प्रेम को पैरों-तले कुचला है। तूने पराई धरोहर में पाप-बुद्धि की है। तूने अपने आप को, अपने अंतःकरण को अपने परमात्मा की दृष्टि में नीचे गिराया है। तूने अपने आचार को नष्ट कर लिया है। यह सब पाप हैं, परन्तु तूने जो एक पाप-आत्मा को सन्मार्ग की ओर आने से रोका है, और उसे फिर उसी पाप के नरक-कुंड में सड़ने पर बाध्य किया है, यह पाप नहीं, "घोर पाप" है, और यह पाप कभी माफ़ न होगा।

—:o:—

सेवा-धर्म

(१)

दिवाली की रात थी, पृथ्वी ने आकाश की छवि धारण की थी। जहाँ तक दृष्टि जाती थी, दीपकों के सिवा कुछ दिखाई न देता था, जैसे आकाश के तारों की गिनती नहीं। परन्तु यही चाँदनी (?) रात है, जब सहस्रों लोभी हाथ-कल्पित ऐश्वर्य्य की इच्छा में पड़कर अपनी पूँजी लुटा बैठते हैं, और फिर अपनी मूर्खता पर बैठे रोते हैं। मनुष्य परिश्रम नहीं करना चाहता, परन्तु उसके मीठे फल खाना चाहता है। आशा बुद्धि को धोखा दे जाती है। पूरनचन्द भी इसी मंत्र से मुग्ध हो चुका था। वह दिन-रात जुआ खेलता रहता था। दिवाली के दिनों में तो उसे खाने-पीने की भी सुध न रहती थी। उसे विश्वास हो गया था कि किसी न किसी दिन भाग्य चमकेगा। आशा बार बार निराशा का रूप धारण करती थी, परन्तु पूरनचन्द हार नहीं मानता था, और भाग्य के भरोसे बराबर पाँसा फेंकता रहता। वह एक दफ़्तर में ख़ज़ानची था। दिवाली निकट आई तो दफ़्तर से अनुपस्थित रहने लगा। परन्तु महीने के अन्तिम दिनों में दफ़्तर जाना आवश्यक हो गया। स्टाफ़ के वेतन का बिल बनाना था। दैवयोग से दिवाली पहली नवम्बर को थी।

३१ अक्टूबर को वेतन बाँटने के लिए रुपया आया, पर पूरे चार बजे। क्लर्क घर जा चुके थे। वेतन उस दिन बाँटा न जा सका। पूरनचन्द ने अपना वेतन उसी दिन ले लिया और झूमता-झामता घर को चला। दिवाली की रात की सामग्री मिल गई थी। रात को जब लक्ष्मी-पूजा हो चुकी तब वह दीपमाला देखने के बहाने घर से चला और जुए के अड्डे पर जा पहुँचा। वहाँ उसका दुर्भाग्य पहले ही से खड़ा उसकी राह देख रहा था, जाते ही सब कुछ हार गया। अब उसकी दशा उस पक्षी के समान थी जो उड़ने से पहले ही परकटा हो चुका हो। उस समय उसकी बेबसी कैसी करुणामय, कितनी हृदयद्रावक, और निराशा-जनक होती है। वह उड़ना चाहता है, परन्तु अपने कटे हुए परों को देखकर ठण्डी साँस भरता है और तड़पकर रह जाता है। पूरनचन्द को ऐसा प्रतीत हुआ, मानो दिवाली की रात के साथ ही उसका सौभाग्य भी चला जा रहा है। चारों ओर दृष्टि दौड़ाई, परन्तु कहीं से रुपया मिलने की आशा न थी। सहसा उसके हृदय में एक विचार आया। आशा सामने खड़ी दिखाई दी—स्टाफ़ के वेतन का रुपया दफ़्तर में पड़ा था—और वह ख़ज़ानची था।

पूरनचन्द पर नशा सा छा गया। वह उड़ता हुआ दफ़्तर की ओर चला। रात के दस बज चुके थे, दीपमाला के वसन्त में शिशिर के चिह्न दिखाई देने लगे थे। बाज़ारों की रौनक़ कम हो रही थी। परन्तु पूरनचन्द की आँखें इस

ओर से बन्द थीं। वह इस प्रकार भागता चला जा रहा था, जैसे किसी बीमार के लिए कोई डाक्टर को बुलाने जा रहा हो। दफ़्तर में पहुँचा तो चौकीदार दिखाई दिया। पूरनचन्द का हृदय सहम गया। चौकीदार ने पूछा—"कौन है ?"

"मैं हूँ, गङ्गादीन ! कहो क्या हाल है ?"

गङ्गादीन ने स्वर से तुरन्त पहचान लिया, और आगे बढ़ कर बोला—"आइए बाबू साहब ! बाज़ार में तो ख़ूब रौनक़ हो रही है। आप यहाँ कैसे भूल पड़े ?'

पूरनचन्द का कलेजा धड़क रहा था, परन्तु जीभ पूरी पूरी बस में थी, हँस कर बोला—"कुछ काग़ज़ भूल गया था। ज़रा दरवाज़ा खोल दे।"

गङ्गादीन ने दरवाज़ा खोल दिया। यदि कोई और होता तो कदाचित् वह दरवाज़ा न खोलता, परन्तु पूरनचन्द ख़ज़ानची था, उसकी बात कैसे टालता। कई बार एडवान्स की आवश्यकता आ पड़ती थी। पूरनचन्द कमरे में पहुँचा और रोशनी करके मेज़ के सामने बैठ गया। इस समय उसका मन ऐसा घबराया हुआ था, जैसे कबूतर बाज़ के पञ्जे में फँस गया हो। बार बार विचार आता था कि यह कुकर्म मुझे नष्ट कर देगा। परन्तु इस अन्धकार में आशा का प्यारा चेहरा भी कभी कभी दिखाई दे जाता था। सरस्वती और लक्ष्मी का यह संग्राम कुछ देर जारी रहा। अन्त में लक्ष्मी का जादू चल गया। उसने सेफ़ खोल कर चार सौ रुपये के नोट जेब में डाल लिये और

कमरा बन्द करके बाहर निकल आया। इस समय उसे ऐसा प्रतीत हुआ, मानों सफलता की एक सीढ़ी चढ़ आया है, यद्यपि उसका एक एक पद विनाश की ओर जा रहा था।

थोड़ी देर बाद पूरनचन्द फिर उसी जुये के अड्डे में जा पहुँचा जहाँ भाग्य फूटता है और बुरे दिन हँसते हैं। आशा रस्ता दिखा रही थी, मगर दुर्भाग्य ओट में खड़ा मुस्कराता था। पूरनचन्द ने फिर दाँव लगाये और फिर सब कुछ हार गया। यह आशा का नाटक न था, नैराश्य-लीला थी। सरस्वती के बाद लक्ष्मी भी विदा हो गई। अब चारों ओर अँधेरा था; परन्तु उस अन्धकार से अधिक डरावनी वह उषाकाल की सफ़ेदी थी जो शनैः शनैः निकट आती जाती थी। इस सफ़ेदी से पूरनचन्द इतना भयभीत था कि उसकी कल्पना ही से उसकी आत्मा काँप जाती थी। सोचता था, क्या कोई ऐसा उपाय नहीं हो सकता कि कल सवेरे सूरज ही न निकले। परन्तु यह कैसे हो सकता था? पूरनचन्द घर पहुँचा। इस समय उसके पैर ऐसे लड़खड़ा रहे थे, जैसे किसी ने शराब पी हो। उसके पिता रायसाहब सुरजनमल धनाढ्य पुरुष थे, परन्तु उनकी कृपणता सारे नगर में प्रसिद्ध थी। पूरनचन्द को कई बार विचार आया कि चल कर उनके सामने सारी बात खोल दूं; तो वे मेरे लिए चार सौ रुपये का मुँह न देखेंगे। परन्तु फिर विचार आता कि यह नहीं होगा; ऐसे भाग्य होते तो वे मुझे कोई कारख़ाना न खोला देते। बेकार लज्जित हूँगा। कोई

और उपाय सोचना चाहिए। अब उसे समझ आ गई थी; आशा कोई नया धोखा न दे सकी। उसने सारी रात आँखों में काट दी। लेकिन सवेरा होते होते उसका धैर्य्य कुछ बँध चुका था। एक पाप पर परदा डालने के लिए नये पाप की तैयारी हो रही थी। उस समय उसकी आँखें अपने नौकर रौनकी पर लगी थीं।

(२)

रायसाहब सुरजनमल के तीन नौकर थे। उनमें रौनकी सबसे पुराना था। उसने अपने जीवन का अधिकांश भाग रायसाहब ही की सेवा में व्यतीत किया था। बोलता तो ऐसा जान पड़ता, मानो लड़ रहा है। काम से भी जहाँ तक हो सकता, कतरा जाता था। हाँ, दूसरे नौकरों को डाँट-डपट करना ख़ूब जानता था। वह इस काम को ऐसी सख़्ती से पूरा करता कि नौकर बिलबिला उठते थे। रौनकी के इस दुर्व्यवहार के विरुद्ध नौकर प्रायः रायसाहब के सामने रोते रहते थे, परन्तु वे रौनकी ही का पक्ष लेकर उन्हें फटकार देते थे। इससे रौनकी का चेहरा खिल जाता था। अकड़ कर कहता—"मेरा तुमने क्या बिगाड़ लिया।"

परन्तु रौनकी में कोई गुण न हो, यह बात न थी। वह स्वामी के लिए प्राण तक देने को तैयार रहता था। रायसाहब को उस पर रुपये-पैसे के मामले में पूरा पूरा विश्वास था। उनको इस बात का निश्चय हो गया था कि

रौनकी मरता मर जायगा, पर एक पाई भी इधर-उधर नहीं करेगा। कई अवसर ऐसे आये जब रौनकी चाहता, तो सैंकड़ों रुपये उड़ा सकता था। माया ने सुनहरी जाल बिछाया, परन्तु रौनकी ने अपने मन को डाँवाडोल नहीं होने दिया। वह पराये रुपये को मिट्टी के समान समझता था। रौनकी के इस गुण ने उसके सारे अवगुणों पर परदा डाल दिया था। रायसाहब उस पर लट्टू थे।

(३)

दिवाली के दूसरे दिन प्रातःकाल रौनकी अपने कमरे में बैठा गुड़गुड़ी पी रहा था, और आँखें बन्द किये किसी गहरे विचार में मग्न था। इतने में पूरनचन्द भागा भागा अन्दर आया और बोला, "रौनकी! मुझे बचा लो।"

आवाज़ में करुणा भरी थी, शब्दों में घबराहट। रौनकी के हाथ से गुड़गुड़ी छूट गई। उसे पूरनचन्द से असीम प्रेम था। उसने उसे गोदी में खिलाया था। वह रात्रि के समय प्रायः बेसुध पड़ा सोता रहता था। परन्तु जब कभी पूरनचन्द बीमार हो जाता तब वह सारी सारी रात उसके सिरहाने बैठ कर काट देता था। कई आदमियों ने उसे अधिक वेतन पर अपने यहाँ ले जाना चाहा, परन्तु पूरनचन्द के विचार से वह कहीं न गया। प्रेम ने पैरों में ज़ंजीर डाल दी थी। उसका कोई बच्चा न था। वह पूरनचन्द से पुत्र के समान स्नेह करता था। जिस प्रकार

वन के वृक्ष को जल देनेवाला उस वृक्ष की शाखाओं और डालियों से भी प्यार करने लगता है, उसी प्रकार रौनकी पूरनचन्द और उसके भविष्य को प्यार करने लगा था। जब उसे आयु में बड़ा होते देखता तब उसका हृदय हर्ष से फूल उठता था। मानो वह उसका नौकर नहीं, पिता था। वह जब कभी एकान्त में बैठता तो पूरनचन्द ही के विषय में सोचता रहता था। वह इस समय भी उसी के विचार में मग्न था। सोचता यह था कि रायसाहब क्यों नहीं उसका ब्याह जल्द कर देते। रायसाहब की दूरदर्शिता उसके लिए कृपणता थी। एकाएक पूरनचन्द को कमरे में आते देख कर उसका कलेजा हिल गया। घबरा कर बोला—"क्यों सरकार! मामला क्या है?"

(४)

यह कहते कहते रौनकी ने कोने में पड़ी हुई लाठी उठा ली, और इस तरह तैयार हो गया, जैसे पूरनचन्द के पीछे कोई भयानक डाकू आ रहा हो। पूरनचन्द के चिन्तित मुख पर एक क्षण के लिए हँसी की रेखा आ गई, जैसे रात्रि को काले आकाश में जुगुनू चमक जाता है। इसके बाद उसने ठण्डी साँस भरी और कहा—"रौनकी! लाठी रख दो। इसकी आवश्यकता नहीं।"

रौनकी के हृदय से बोझ सा उतर गया। लाठी रखते हुए बोला—"तो सरकार! ऐसी कौन आपत्ति आई है, जो मुँह सूख गयो है।"

पूरनचन्द ने चारों ओर इस प्रकार देखा, जैसे चोर चोरी करने से पहले देखता है। उसको डर था कि कहीं कोई मुझे देख न ले। धीरे से बोला—"मेरे सिर पर सचमुच आफ़त ही आ गई है। तुम चाहो तो मुझे बचा सकते हो। कहो मेरा एक काम करोगे ?"

रौनकी ने सीने पर हाथ रख कर उत्तर दिया—"हुज़ूर ! हुक्म दें तो मैं आग में कूद पड़ूँ"

पूरनचन्द का चेहरा चमक उठा। निराशा के अन्धकार में आशा की किरण चमकने लगी। उसने जेब से एक हार निकाला और रौनकी के हाथ पर रख कर कहा—"इसे बाज़ार ले जाओ और बेच आओ। मुझे अभी रुपये की आवश्यकता है।"

रौनकी पर बिजली सी गिर पड़ी। हार देख कर वह इस प्रकार डर गया, जैसे उसे सर्प ने सूँघ लिया हो। उसकी जिह्वा बन्द हो गई। मस्तिष्क में सहस्रों विचार समा गये। रह रह कर सोचता था कि पूरनचन्द को ऐसी क्या आवश्यकता आ पड़ी है जो हार बेचने तक की दशा पहुँच गई। और फिर वह कोई निर्धन कङ्गाल नहीं। रायसाहब चाहें तो आधा शहर ख़रीद सकते हैं। उनको आभूषण बेचने की क्या आवश्यकता है। रौनकी समझ गया कि पूरनचन्द यह काम रायसाहब से छिपा कर कर रहा है।

परन्तु चोरी क्यों करता है, इसका कारण न समझ सका। विचार-सागर में चिरकाल तक डुबकियाँ लगाने पर भी उसे किनारा न मिल सका। उसने गम्भीरता से पूरनचन्द की ओर देखा। आँखों में दिल रक्खा हुआ था। पूरनचन्द ने उसे सोच-विचार में निमग्न देखा तो फिर घबरा गया। आशा की छोटी सी किरण भी आँखों से ओझल हो गई।

रौनकी ने पूछा—"सरकार मामला क्या है? ऐसी ज़रूरत क्या हो गई, जो हार बेच रहे हो?"

पूरनचन्द की आँखों में आँसू भर आये। उसने कोई उत्तर न दिया, हार जेब में डाल कर वापस चलने लगा। उस समय उसका मुख निराशा और शोक की जीवित जाग्रत मूर्ति था। रौनकी के कलेजे पर साँप लोट गया। पीछे दौड़ कर बोला—सरकार! तुमको कितने रुपये की ज़रूरत है?

सूखे धानों में पानी पड़ गया। पूरनचन्द ने फिर उत्साहित होकर उत्तर दिया, "चार सौ की।"

"रुपया कब चाहिए?"

"अभी।"

रौनकी के पास कोई छः सौ रुपये रक्खे थे। यह रुपया उसने कई वर्षों में इकट्ठा किया था। वह सारा वेतन घर नहीं भेज दिया करता था। तीन-चार रुपये मासिक बचा रखता था। यह रुपये उसने अपने कमरे के एक कोने में दबा रक्खे थे। रौनकी ने सोचा कि हार लेकर बाज़ार में कहाँ बेचता

फिरूँगा। अपने पास से रुपये दे देता हूँ। क्या हानि है? पूरनचन्द का हाथ सदा तो इसी प्रकार तङ्ग नहीं रहेगा। जब उसके हाथ चार पैसे आयेंगे तब उससे अपना रुपया वापस लेकर हार लौटा दूँगा। इस समय उसका काम चल जायगा। यह सोचकर उसने पूरनचन्द से हार ले लिया और कहा—"अच्छा सरकार! यह काम हम अभी कर देंगे।"

पूरनचन्द की जान में जान आई। उसको ऐसा प्रतीत हुआ, मानो रौनकी उसके लिए नौकर नहीं, देवता है।

(५)

थोड़ी देर बाद रौनकी ने कमरे का दरवाज़ा बन्द किया और पृथ्वी खोदने लगा। इस समय उसका कलेजा ज़ोर ज़ोर से धड़क रहा था। उसने चोरी नहीं की थी, कोई पाप, कोई कुचेष्टा नहीं की थी। परन्तु फिर भी उसका हृदय काँप रहा था। वह केवल यह चाहता था कि पूरनचन्द का काम हो जाय, और उसको रायसाहब के सामने अपने अपराध को प्रकट न करना पड़े। यद्यपि वह नितान्त बेसमझ और अनपढ़ था तो भी उसे विश्वास हो गया था कि यदि पूरनचन्द का यह अपराध, जिसके विषय में वह आप भी अभी तक अन्धकार में था, रायसाहब के सामने प्रकट हो गया तो पूरनचन्द का भविष्य काला हो जायगा।

इस विचार से उसका .खून सूखा जाता था। वह सब कुछ सह सकता था, परन्तु पूरनचन्द का उदास मुँह देखकर

उसका धीरज छूट जाता था। उसने जल्दी जल्दी भूमि खोदी, रुपया गिनकर निकाला और भूमि को फिर से बराबर कर दिया। इस समय उसके मुख पर फिर वही शान्ति टपकने लगी थी। कुछ देर बाद पूरनचन्द फिर निराश और चिन्तित आया और हिचकिचाते हुए बोला—रौनकी !

रौनकी गुड़गुड़ी पी रहा था। उसने मुख से कोई उत्तर न दिया, परन्तु हाथ से अपने सिरहाने की ओर इशारा कर दिया। पूरनचन्द ने रुपया देखा तो मृतक शरीर में प्राण आ गये। रौनकी की ओर कृतज्ञता से देखता हुआ चला गया।

एकाएक रौनकी चौंक पड़ा, जैसे किसी की कोई बहुमूल्य वस्तु गुम हो जाय। वह भूमि खोदते समय हार दबाना भूल गया था। वह झपाटे से अपनी चारपाई के सिरहाने पहुँचा। हार वहीं पड़ा था। सोचने लगा, अब इसे रात को दबाना चाहिए। दिन में किसी को सन्देह भी हो गया तो लेने के देने पड़ जायँगे। यह निश्चय करके उसने हार कमर में लपेट लिया, और अपने काम में लग गया। परन्तु सारे दिन चिन्ता लगी रही।

रात को रौनकी ने दरवाज़ा बन्द किया और भूमि खोदने लगा। परन्तु हाथों में शक्ति न थी। हृदय इस प्रकार धड़क रहा था, जैसे कोई सिपाही पकड़ने आ रहा हो। शरीर वर्षों के रोगी के समान निढाल हो रहा था। यह होनेवाली घटना का पूर्वरूप था, पर रौनकी इसको न जानता हुआ

अपने काम में लीन था। उसके हाथ-पैर न चलते थे। परन्तु वह भूमि खोद रहा था। सहसा किसी ने दरवाज़े पर हाथ मारा। रौनकी के मुख से पसीने की बूँदें टपकने लगीं। सरदी के दिन थे, पर उसका दम घुटा जा रहा था, तथापि उसने साहस से पूछा—ऐसे वक्त कौन है ?

"दरवाज़ा खोल दे।"

रौनकी का रङ्ग उड़ गया। यह रायसाहब की आवाज़ थी। शेर की गर्ज सुन कर जो दशा बकरी की होती है वही दशा इस आवाज़ को सुन कर रौनकी की हुई। उसे अपना अपमान आँखों के सामने खड़ा दिखाई दिया। उसने बोलना चाहा, परन्तु कण्ठ से शब्द न निकल सका। रायसाहब ने कड़क कर कहा—दरवाज़ा खोल दे।

रौनकी ने लपक कर हार को बिस्तर के नीचे छिपा दिया। टिमटिमाता हुआ दीपक बुझा दिया और दरवाज़ा खोला। उस समय उसके पाँव मन मन के भारी हो रहे थे। रायसाहब ने अन्दर आते ही कहा, "दीपक क्या हुआ।"

रौनकी ने उत्तर दिया, "सरकार ! बुझा दियो।"

"अभी तो जल रहा था। बुझा क्यों दिया ? जल्दी जलाओ।"

रौनकी की शङ्कायें पक्की होने लगीं, इधर-उधर झाँकने लगा। वह चाहता था कि यह समय टल जाय तो पीछे सैकड़ों उपाय सोचे जा सकते हैं। समय अपराध के छिपाने

के लिए सबसे बड़ी सहायता है। परन्तु रायसाहब ने उसे अवसर न दिया। जेब से दियासलाई निकाल कर स्वयं दीपक जला दिया, और भूमि की ओर देख कर बोले—"यह तू क्या कर रहा था?"

रौनकी ने हाथ बाँध कर उत्तर दिया—"सरकार, जो महीना मिलता है उससे बचा बचा कर किसी वक़्त के लिए मैं यहाँ कुछ दाब दिया करता हूँ।"

"परन्तु आज क्या दाबने लगा था? अभी तो महीना भी नहीं मिला।"

रौनकी का मुँह बन्द हो गया। वह चुपचाप राय-साहब की ओर देखने लगा। रायसाहब ने आगे बढ़ कर भूमि से मिट्टी हटाई, और रुपयों की पोटली देखी। फिर बिस्तर हिलाया। उनका विचार था कि कदाचित् रौनकी ने जुआ खेला है, क्योंकि उससे और किसी प्रकार के पाप की उन्हें ज़रा भी आशङ्का नहीं थी। परन्तु उन्हें यह देख कर कैसा आश्चर्य्य हुआ कि रौनकी के बिस्तर के नीचे हार पड़ा है। वह उसे देख कर सिर से पाँवों तक काँप गये। यदि कोई दूसरा मनुष्य यही काम करता, तो सम्भव है राय-साहब क्षमा कर देते। परन्तु रौनकी को रँगे हाथों देख कर उनका रक्त उबलने लगा। उन्होंने अत्यन्त नम्रता से, जो प्रचण्ड क्रोध से भी अधिक भयानक होती है, पूछा—"यह हार कैसे उड़ाया? यह तो अभी थोड़े ही दिन हुए हमने ख़रीदा था।"

रौनकी में चाहे लाखों अवगुण थे, परन्तु वह चोर न था। इस गुण के लिए रायसाहब प्रायः उसकी प्रशंसा किया करते थे। इस समय उसकी वह सारी कीर्ति मिट्टी में मिलने लगी थी। रौनकी ने सोचा, अब सारी घटना साफ़ साफ़ कह देनी चाहिए। पूरनचन्द रायसाहब का बेटा ही है, उसे खा तो नहीं जावेंगे। यह सोच कर उसने धैर्य्य के साथ सिर ऊँचा किया और हाथ बाँध कर उत्तर दिया—"सरकार! मामला यों है कि .. ..

इतने में उसकी दृष्टि पूरनचन्द पर गई। वह इस तरह काँप रहा था, जैसे किसी को बुख़ार चढ़ रहा हो। उसने एक विचित्र भाव से रौनकी की ओर देखा, और सिर झुका लिया। रौनकी को ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे पूरनचन्द ने उसे कहा है—तुम कमीने ही निकले। मैंने तुम पर विश्वास किया, परन्तु तुम इसके योग्य न थे! यदि मैं पहले सोचता तो इस समय इस तरह अपमान न होता।

जिस प्रकार वायु का रुख़ बदलने से पतङ्ग का रुख़ बदल जाता है, उसी प्रकार इस दृष्टि से रौनकी का विचार बदल गया। उसने निश्चय कर लिया कि स्वयं अपमान सह लूँगा, परन्तु पूरनचन्द पर उँगली न उठने दूँगा। यह सोच कर उसने रायसाहब से कहा—"सरकार मामला यों है कि मैंने चोरी करी है।"

रायसाहब उसकी चारपाई पर बैठ गये। इस समय

उनको ऐसा दुःख हुआ, मानो लाखों की हानि होगई हो। परन्तु पूरनचन्द मन ही मन में उसकी सराहना कर रहा था। संसार में ऐसे मनुष्यों की कमी नहीं जो अपने स्वार्थ के लिए दिन-रात झूठ बोलते रहते हैं। परन्तु दूसरों के लिए झूठ बोलनेवालों की संख्या कितनी है ?

रायसाहब थोड़ी देर चुप रहे, और फिर बोले--"तुम सवेरा होने से पहले-पहल मेरे मकान से निकल जाओ। बस, तुम्हारा यही दण्ड है।"

रौनकी और पूरनचन्द दोनों की आँखों में आँसू आगये।

(६)

इसके एक वर्ष पश्चात् रायसाहब सुरजनमल का देहान्त हो गया।

अब सारे रुपसे-पैसे का स्वामी पूरनचन्द था। उसने क्रिया-कर्म से निपट कर रौनकी के नाम चार सौ रुपया का मनीआर्डर भिजवा दिया, और साथ ही पत्र लिखा कि तुम तुरन्त मेरे पास आ जाओ। परन्तु एक सप्ताह पश्चात् मनी-आर्डर वापस आगया। साथ ही रौनकी के भाई का पत्र आया, जिसमें लिखा था कि उसे मरे हुए एक वर्ष हो गया है। वह जब से आपके यहाँ से आया तब से वह सदैव उदास ही रहा। यह उदासी उसके मुख से मरणकाल तक नहीं गई। ऐसा प्रतीत होता था, जैसे उसे कोई रोग है ! परन्तु क्या रोग है, यह किसी को पता नहीं लग सका।

पूरनचन्द पर इस पत्र का ऐसा प्रभाव हुआ कि कई दिन तक रोता रहा। अब उसने जुआ खेलना छोड़ दिया है और रौनकी के नाम पर एक धर्मशाला बनवा दी है। उसमें उसकी मूर्ति रक्खी है। लोग उसकी मूर्खता पर हँसते हैं। परन्तु वह समझता है कि रौनकी के बलिदान के सामने इसकी इतनी भी गणना नहीं है जितनी सूर्य्य के सामने एक तुच्छ परमाणु की।

—:o:—

अँधेरी दुनिया

(१)

मुझमें और तुममें बहुत भेद है। तुम सहस्रों दृश्य देखते हो, मैं केवल आवाज़ें सुनती हूँ। पृथ्वी, आकाश, बाग़-बाग़ीचे, बादल, चन्द्रमा, तारे यह मेरे लिए ऐसे रहस्य हैं जो कभी न खुलेंगे। पर्वत और खोह में मेरे निकट एक ही भेद है और वह यह कि पर्वत के ऊपर चढ़ते समय दम फूल जाता है, खोह में उतरते समय गिरने का भय लगा रहता है। जब लोग कहते हैं, यह पर्वत कैसा सुन्दर है, वह खोह कैसी भयानक है, तब मैं इन दोनों के अर्थ नहीं समझ सकती। अपने मस्तिष्क पर आत्मा की पूरी शक्ति से ज़ोर डालती हूँ, परन्तु मस्तिष्क काम नहीं करता और मैं सटपटा कर रह जाती हूँ। शस्यश्यामल खेतों की हरियाली, सुनील जल के स्रोतों की सुन्दरता, बच्चों की मनोहरता, पुरुष का सौन्दर्य्य, स्त्री का रूप-लावण्य, इन्द्रधनुष का रङ्ग, काली घटा का जादू, चन्द्रमा की छटा, फूलों का निखार, यह समस्त शब्द मेरे निकट विस्तृत और अन्धकारमय वायुमण्डल के भिन्न भिन्न भागों के नाम हैं, इसके सिवा मैं और कुछ न समझ सकती हूँ, न समझती हूँ। मैं अन्धी हूँ, मेरा संसार एक अँधेरी लम्बी यात्रा है और शब्द उसके पड़ाव हैं। जिस प्रकार कहते हैं,

समुद्र में तरङ्गें उठती हैं और बैठ जाती हैं, उसी प्रकार मेरी इस अँधेरी दुनिया में अनेक शब्द उठते हैं और मर जाते हैं। मैं शब्द को जानती हूँ, शब्द को पहचानती हूँ, और उन्हीं की सहायता से सौन्दर्य्य, जीवन और आयु का अनुमान लगाती हूँ। जब मैं किसी बालक की तोतली बातें सुनती हूँ और जब मेरा हृदय उन्हें पसन्द करता है तब मैं समझ लेती हूँ कि सुन्दरता इसी मीठी वाणी का नाम है। जब मैं किसी पुरुष को बातें करते पाती हूँ और उसकी बातों में मुझे वह वस्तु प्रतीत होती है जो कभी चन्द्रमा की चाँदनी में और कभी शीतकाल की धूप में प्रतीत होती है तब मैं तुरन्त जान लेती हूँ कि जवानी इसी को कहते हैं। और जब मैं किसी काँपती हुई आवाज़ को और उसके अन्दर मर मर जाते हुए शब्दों को सुनती हूँ तब मुझे विश्वास हो जाता है कि यह मनुष्य बूढ़ा है और शनैः शनैः अपने शब्दों की तरह काँप काँप कर ख़ुद भी मर रहा है। थोड़े ही दिनों में अपने स्वर के समान स्वयं भी मर जायगा और संसार के लोग जिस प्रकार उसके जीवनकाल में उसकी आवाज़ की परवा नहीं करते थे, ठीक उसी प्रकार मरने के पश्चात् उसकी मृत्यु की परवा भी नहीं करेंगे। इतना ही नहीं, मैं क्रोध और दुख, भय और आनन्द, प्रेम और दया, आश्चर्य्य और विस्मय, सब भावों को शब्द से ही पहचान लेती हूँ। मैं अन्धी हूँ—मेरे कान ही मेरी आँखें हैं।

(२)

मैं पंजाबिन हूँ, परन्तु मेरा नाम बङ्गालिनों का सा है। मैंने अपने सिवा किसी दूसरी पंजाबिन लड़की का नाम रजनी नहीं सुना। मेरे पिता उपन्यासों के बहुत शौक़ीन हैं। सुना है, दिन-रात पढ़ते रहते हैं। उन्होंने बँगला का एक उपन्यास रजनी पढ़ा और फिर मुझे भी रजनी के नाम से पुकारने लगे। इसके पश्चात् मेरा नाम यही प्रसिद्ध हो गया। वे धनवान् हैं। उन्हें रुपया-पैसा की कमी नहीं। परन्तु मेरी ओर से प्रायः चिन्तित रहते हैं। मैं भागवान् घर में आई, परन्तु अभागिन बन कर। मेरे माता-पिता मुझे देखते ही ठण्डी साँस भर कर चुप हो जाते और देर तक चुपचाप बैठे रहते। मैं जान लेती थी कि इस समय मेरे संसार का अन्धकार उनके हृदय के अन्दर समा गया है और उनकी आँखों के आँसू उनके गालों पर बह रहे हैं। मैं उनका दुख दूर करना चाहती थी, परन्तु मेरे किये कुछ होता न था और मेरी बेबसी मेरे अन्धे मुख पर गरमी और लाली के रूप में प्रकट हो जाती थी।

मैं जवान हुई तो मेरे माता-पिता की चिन्ता बढ़ने लगी। पहले-पहल तो मुझे उनकी चिन्ता का कारण मालूम न था, परन्तु थोड़े ही दिनों में सब कुछ समझ गई। वह मेरे ब्याह के लिए चिन्तित थे। सोचते थे, इस अन्धी लड़की से कौन ब्याह करने को तैयार होगा। यह चिन्ता उन्हें अन्दर ही

अन्दर खाये जाती थी। सदैव उदास रहते थे। मुझे अपने दुर्भाग्य का पहली बार अनुभव हुआ। इससे पहले मुझे यह कल्पना तक न थी कि विधाता ने मेरी आँखें छीन कर मुझ पर कोई अत्याचार किया है। मैं अपनी अँधेरी दुनिया में प्रसन्न थी। परन्तु अब सोचती थी, क्या जो परमात्मा अन्धा कर सकता है वह यह नहीं कर सकता कि अन्धे कभी जवान न हों, न उनका शरीर कभी बढ़े-फूले। यदि यह हो जाय तो अन्धे अपने जीवन की भयानकतर विपत्तियों से बच जायँ और उन्हें अपने दुर्भाग्य पर दुःख और क्रोध प्रकट करने की आवश्यकता कभी प्रतीत न हो। मैंने अपने कमरे के दरवाज़े बन्द करके यह प्रार्थना पता नहीं कितनी बार की, परन्तु उसे परमात्मा ने कभी स्वीकार न किया। यहाँ तक कि मैं परमात्मा और परमात्मा की दया दोनों से निराश हो गई और मुझे विश्वास होगया कि परमात्मा नहीं है और यदि है तो अत्याचारी, बेपरवा और निठुर है। परन्तु अब यह विचार बदल गये हैं।

मैं सुन्दरी थी। मेरा मुख, मेरा रङ्ग, मेरा आकार सब मन को मोह लेनेवाला था। यह मेरा नहीं मेरी सहेलियों का विचार था। मैं केवल यह जानती थी कि मेरे स्वर में मिठास है। मैं अन्धी हूँ, अपनी तारीफ़ अपने मुख से करना अच्छा नहीं लगता, परन्तु अपना स्वर सुन कर मैं कभी कभी स्वयं झूमने लग जाती थी। सुना है, हरिण अपनी कस्तूरी

की सुगन्ध में प्रमत्त होकर उसे ढूँढ़ता फिरता है। मैं भी अपने स्वर की सुन्दरता पर, यदि उसे सुन्दरता कहा जा सकता हो, मोहित थी। मैं उसे छूना, हाथों में पकड़ना, हृदय से लगाना चाहती थी। परन्तु मेरी यह मनोकामना न पूरी हो सकती थी, न होती थी। मैं सुन्दरी थी। मेरा स्वर मीठा था। परन्तु अन्धी की सुन्दरता देखनेवाला कोई न था। यह विचार मेरी अपेक्षा मेरे माता-पिता के लिए अधिक दुख-दायी था। जब कभी अकेले होते, मेरे दुर्भाग्य की चर्चा छिड़ जाती। कहते, यह उत्पन्न ही क्यों हुई, और जो हुई थी तो बचपन ही में मर जाती। अब जवान हुई है, वर नहीं मिलता। रूप-रङ्ग देख कर भूख मिटती है, परन्तु आँखों के अभाव ने काम बिगाड़ दिया। अब क्या करें, परमात्मा ही है जो बिगड़ी बन जाय और तो कोई उपाय नहीं है।

यह बातें सुनकर मेरे कलेजे में आग-सी लग जाती थी।

(३)

सायङ्काल था। मैं अपने कमरे में बैठी अपने कर्मों को रो रही थी। एकाएक ऐसा मालूम हुआ जैसे कोई कमरे में आ गया है। यह मेरे पिता न थे। न माँ थी, न नौकर। मैं उन सबके पैरों की चाप को पहचानती थी। यह क़दम मेरे कानों के लिए नये थे। मैंने सिर का कपड़ा सँभाल-कर पूछा—

"कौन है?"

किसी ने उत्तर दिया—"मैं"

मैं चौंक पड़ी। मेरे शरीर में एक सनसनी सी दौड़ गई। यह लाला कर्त्तारांम बैरिस्टर के सुपुत्र लाला सीताराम थे। पहले हमारे यहाँ प्रायः आते-जाते रहते थे। उनसे और मेरे पिताजी से बहुत प्रीति थी। घर की सी बात थी। उनके रूप-रङ्ग के सम्बन्ध में मैं क्या कह सकती हूँ, हाँ उनकी आवाज़ बहुत सुकोमल और रसीली थी। वे जब बोलते थे तब मैं तन्मय हो जाती थी। जी चाहता था, उन्हीं की बात सुनती रहूँ। उनमें दिल को खींच लेने की शक्ति थी। मुझे वे दिन कभी न भूलेंगे जब वे नेम से हमारे घर आते और केवल मेरी बातें किया करते थे। उनकी इच्छा थी और इस इच्छा को उन्होंने कई बार प्रकट भी कर दिया था कि रजनी का ब्याह जल्दी कर देना चाहिए। मेरे पिता कहते, मगर उसे ब्याहना स्वीकार कौन करेगा? यह सुनकर वे चुप हो जाते। फिर थोड़ी देर पीछे ठण्डी साँस भरते और तब उनके उठकर टहलने की आहट सुनाई देती। इस समय वे कैसे व्याकुल, कितने उदासीन होते थे, यह मैं अन्धी भी समझ जाती थी। उनकी इन सहानुभूतियों ने मेरे हृदय-पट पर कृतज्ञता का भाव अङ्कित कर दिया। मैं उनके आने की बाट देखती रहती थी। यदि न आते तो उदास हो जाती थी। खाने-पीने की सुध न रहती थी। इसी तरह छः महीने निकल गये। इसके पश्चात् उन्होंने हमारे यहाँ आना-जाना छोड़ दिया और आज पूरे एक साल बाद आये। मैं बैठी

थी, खड़ी हो गई। इस समय मेरे शरीर का रोम रोम प्रफुल्लित हो गया। धीरे से बोली—"इतने समय तक कहाँ रहे ?"

"यहीं था।"

"बड़े कठोर हो।"

कुछ उत्तर न मिला, मेरा कलेजा धड़कने लगा। ख़याल आया, कहीं बुरा न मान गये हों। मैंने क्षमा माँगनी चाही, परन्तु किसी दैवी शक्ति ने जीभ पकड़ ली। उन्होंने थोड़ी देर ठहर कर कहा—"रजनी !"

मैंने यह शब्द उनके मुख से सैंकड़ों बार सुना था, परन्तु जो बात इसमें आज थी वह इससे पहले कभी न थी। स्वर काँप रहा था, जैसे सितार के तार हिल रहे हों। उसमें कैसी मिठास थी, कैसी मोहनी और उसके साथ मिली हुई विकलता और प्रेम। मेरी आत्मा पर मद सा छा गया। एक क्षण के लिए मैं भूल गई कि मैं अन्धी हूँ। ऐसा जान पड़ता था कि मैं आकाश में उड़ी जा रही हूँ और मेरे चारों ओर कोई मधुर सङ्गीत अलाप रहा है। यह क्षण कैसा सुखद, कैसा अमोलक था, उसे मैं आज तक नहीं भूल सकी। आठ वर्ष बीत चुके हैं। इस सुदीर्घकाल में कई अवसर ऐसे आये, जब मैंने यह अनुभव किया कि मेरी आत्मा इस आनन्द के बोझ का सहन न कर सकेगी। परन्तु यह अवसर उस एक क्षण के आनन्द के सामने तुच्छ है, जब मुझे यह ख्याल न रहा था कि मैं अन्धी हूँ, और मेरी आँखें दुनिया की बहार देखने से वञ्चित हैं।

एकाएक मुझे स्थान, समय और अपनी अवस्था का अनुभव हुआ। मैं अपनी लज्जा के बोझ तले दब गई और आत्मा की पूरी शक्ति से केवल एक शब्द बोल सकी।

"क्यों ?"

"तुम्हारा ब्याह होगा।"

मेरा मुँह लाल हो गया, जैसे किसी ने तमाचा मार दिया हो। फिर भी साहस से बोली—"मैं अन्धी हूँ।"

"फिर ?"

"मेरे साथ कौन ब्याह करेगा ?"

अब सोचती हूँ कि उस समय ये शब्द कैसे कह दिये थे। परन्तु अन्धी के लिए साहस कोई बड़ी बात नहीं। लज्जा आँखों में होती है, और वह न दूसरे को देख सकती है, न यह जान सकती है कि कोई दूसरा उसे देख रहा है। सीताराम कुछ देर चुप रहे! उनकी यह चुप्पी मेरे लिए संसार का सबसे बड़ा दण्ड था। ऐसा जान पड़ता था कि मेरे भाग्य की परीक्षा हो चुकी है और अब परिणाम निकलने को है। मेरे प्राण होंठों तक आ गये। एकाएक वे आगे बढ़े और मेरे मस्तक पर धीरे से अपना हाथ रख कर बोले—"रजनी! तुम्हारे साथ मैं ब्याह करूँगा।"

मेरे सिर से बोझ उतर गया। मालूम होता है, हृदय के भाव मुख पर से पढ़े जा सकते हैं। क्योंकि सीताराम ने

दूसरे क्षण में मुझे अपने बाहु-पाश में ले लिया और मेरा मुँह प्रेम से बार बार चूमने लगे।

उस रात मुझे नींद न आई। उसका स्थान आनन्द ने ले लिया था। ऐसा प्रतीत होता था, मानो मैं अपनी अँधेरी दुनिया पर शासन कर रही हूँ, और संसार मेरे प्रेम के अमर सङ्गीत से भरपूर हो चुका है।

एक मास भी न बीतने पाया कि हमारा ब्याह हो गया।

(४)

यह मेरे जीवन का दूसरा परिच्छेद था। इस समय तक मैं शब्द-संसार में बसती थी, अब प्रेम-पथ में पाँव धरे। वे मुझे चाहते थे! मेरे बिना रह न सकते थे। मेरी पूजा करते थे। प्रायः मेरा हाथ अपने हाथ में ले लेते और मेरी प्रशंसा के पुल बाँध देते थे। कहते, मैंने सैकड़ों युवतियाँ देखी हैं, परन्तु तुम सरीखी सुन्दरी आज तक न देखी है, न देखने की सम्भावना है। मैं पहले-पहल ये बातें सुन कर अपना मुँह हाथों से छिपा लेती थी। परन्तु धीरे धीरे यह झिझक दूर हो गई, जैसे प्रत्येक विवाहिता रमणी के लिए इस प्रकार की ठकुर-सुहातियाँ सुनना एक साधारण बात हो जाती है। वे मेरे लिए दर्पण का काम देते थे। मैं अपनी आँखों से नहीं, बरन अपने कानों से उनकी बातों में, अपनी प्रशंसा में अपना रूप-रङ्ग देख कर गर्व से झूमने लग जाती, और समझती कि मुझ सी सौभाग्यवती स्त्रियाँ संसार में अधिक न

होंगी। इस सौभाग्य ने मेरी कई सखियाँ बना दीं। मेरा आँगन हास-विलास से गूँजता रहता था। परन्तु इस हास-विलास के अन्दर, इस मधुर सङ्गीत के नीचे कभी कभी व्याकुलता का अनुभव होने लगता था, जैसे बिल्ली के गुदगुदे पैरों में तीक्ष्ण नख छिपे रहते हैं। मैंने अपनी एक एक सखी से उसके जीवन के गुप्त रहस्य पूछे और तब मैंने यह तत्त्व समझा कि संसार में प्रत्येक वस्तु वह नहीं जो (दिखाई नहीं प्रत्युत) सुनाई देती है। न संसार में वह अभागा है जिसे प्रायः अभागा समझा जाता है। उनकी बातों ने मेरे सुखमय जीवन को और भी सुखमय बना दिया। वे मुझसे कभी रुष्ट न होते थे, न कभी बुरा-भला कहते थे। वे इसे मनुष्यत्व से गिरा हुआ समझते थे। सोचते थे, यह मन में क्या कहेगी। मेरे नेत्रों का अभाव मेरे लिए दैवी सुख का कारण बन गया, मेरा काम स्वयं करते थे। मैं रोकती तो कहते इससे मुझे आनन्द मिलता है। तुम कुछ ख़्याल न करो। संसार की समस्त स्त्रियाँ अपने पतियों की सेवा करती हैं। यदि एक पति अपनी स्त्री का थोड़ा सा काम कर देगा तो संसार में प्रलय न आ जायगा। उनके पास रुपया था, कई नौकर रक्खे हुए थे, परन्तु वे ज़नाने में न आ सकते थे। रोटी बनाने के लिए एक मिसरानी थी, मेरा जी बहलाने के लिए एक और स्त्री। परन्तु फिर भी कई काम ऐसे होते हैं, जो गृहिणी को स्वयं करने पड़ते हैं। पर मैं

अन्धी थी, इसलिए ऐसे काम वे स्वयं करते थे, और उस समय ऐसे प्रसन्न होते थे जैसे बच्चे को बढ़िया खिलौने मिल गये हों। उनकी दिल-जोईयों ने मुझे उनकी पुजारिन बना दिया। मैं उनकी पूजा करने लगी। सोचती थी, ऐसे मनुष्य भी संसार में थोड़े होंगे। उन्हें मेरी क्या परवा है। चाहें तो मुझ जैसी बीसियों ख़रीद लें। यह उनके लिए कुछ भी कठिन नहीं। परन्तु वे फिर भी मुझे चाहते हैं, मानो मैं किसी देश की राजकुमारी हूँ। मैं पहले उनसे प्रेम करती थी, फिर उनकी पूजा करने लगी। प्रेम ने श्रद्धा का रूप धारण कर लिया। मेरा जीवन न था, सुखमय स्वप्न था, जो भय, अधीरता, अशान्ति और दुःख से कभी नष्ट नहीं हुआ था। उनके प्रेम ने दैवी त्रुटि पूरी कर दी। वह मेरी अन्धकारमय सृष्टि के प्रदीप थे, उनकी बातचीत मेरे नीरस जीवन का सरस सङ्गीत। मैं चाहती थी, वे मेरे पास से कहीं उठ कर न जायँ। मैं उनके एक एक पल, एक एक क्षण पर अधिकार जमाना चाहती थी। जब कभी वे आने में थोड़ी सी भी देर कर देते तब मेरा दम घुटने लगता था, मानो कमरे से हवा निकाल दी गई हो। यह व्याकुलता कैसी जीवनमय है, कैसी प्रेमपूर्ण ? इसे साधारण लोग न समझेंगे। इसको केवल वही जान सकते हैं जिनके हृदय को प्रेम के अन्धे देवता भगवान् कामदेव ने पुष्पों के बाण मार मार कर घायल कर दिया है।

इसी प्रकार पाँच वर्ष का समय, जिसे बेपरवाई और सुख के जीवन ने बहुत छोटा बना दिया था, बीत गया, और मैं एक बच्चे की माँ बन गई। मेरे आनन्द का ठिकाना न था। यह बच्चा मेरी और उनकी परस्पर प्रीति की जीवित जाग्रत मूर्ति था, जिस पर हम दोनों जी-जान से निछावर थे। यह बच्चा (मैंने सुना) बहुत सुन्दर था। मेरी सखियाँ कहती थीं, तुम रजनी (रात्रि) हो, तुम्हारा बेटा सूरज है। इसका रूप मन को मोह लेता है। जो देखता है, प्रसन्न हो जाता है। मैं यह सुनकर फूली न समाती। हृदय में हर्ष की तरङ्गें उठने लगतीं जिस तरह किसी ने बाजे पर हाथ रख दिया हो। फिर पूछती, इसकी आँखें कैसी हैं। वे उत्तर देतीं, बड़ी बड़ी, हिरन का बच्चा मालूम होता है; परमेश्वर ने माँ की कसर बच्चे की आँखों में निकाल दी है।

स्त्री की कई स्थितियाँ हैं। वह बेटी है, बहन है, स्त्री है। परन्तु जो प्रेम उसमें माँ बनकर उत्पन्न होता है उसकी उपमा इस नश्वर संसार में न मिलेगी। मुझे माता-पिता से प्रेम था, पति पर श्रद्धा। उनको देखने के लिए मैं कभी कभी अधीर हो उठती थी। परन्तु उस अधीरता की इस नई अधीरता के साथ कोई तुलना न थी, जो अपने बच्चे का मुख चूमते समय, उसकी आँखों पर हाथ फेरते समय, उसे हृदय से लगाते समय मेरे नारी-हृदय में उत्पन्न हो जाती थी, उस समय मैं घबरा कर खड़ी हो जाती, और परमात्मा के

विरुद्ध सैकड़ों शब्द मुख से निकाल देती। मैं चाहती थी, आह! नहीं बता सकती, कितना चाहती थी कि मेरी आँखें एक क्षण के लिए खुल जायँ और मैं अपने बच्चे को एक नज़र देख लूँ। परन्तु यह इच्छा पूरी न होती थी। मैं अपने दुर्भाग्य को अब अनुभव करने लगी।

(५)

धीरे धीरे मेरी व्याकुलता ने उन्हें भी उदास कर दिया, जिस तरह एक घर में आग लग गई हो तो धूआँ दूसरे घर में भी पहुँच जाता है। प्रायः चिन्तित रहने लगे। वे मेरे भावों को समझ गये थे। अब उनके स्वर में वह मनोहरता न थी, न शब्दों में वह सरसता थी। बातचीत के ढङ्ग में भी अन्तर आ गया था। बोलते बोलते चुप हो जाते। निस्सन्देह उस समय यदि मेरे नेत्रों से अन्धकार का पर्दा उठ जाता तो मैं उनके पलकों पर आँसुओं की बूँदों के सिवा और कुछ न देखती। एक दिन बाहर से आये तो घबराये हुए थे। आते ही बोले, "रजनी!"

मैंने धीरे से उत्तर दिया, "जी।"

"तुम कब अन्धी हुई थीं। मेरा विचार है, तुम जन्म से अन्धी नहीं हो।"

"नहीं।"

"तो तुम्हारी आँखें ख़राब हुए कितना समय हुआ?"

"मैं उस समय तीन वर्ष की थी।"

"तुम्हें अच्छी तरह याद है। तुम्हें विश्वास है ?"

"हाँ। इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं।"

उन्होंने मुझे खींच कर गले से लगा लिया और बोले—"परमात्मा को धन्यवाद है ! एक बार अन्तिम प्रयत्न करूँगा।"

आवाज़ से मालूम होता था, जैसे उनके सिर से कोई बोझ उतर गया है। मैंने उनके मुख पर हाथ फेरते हुए पूछा "बात क्या है ?"

"मैं चाहता हूँ, तुम्हारी आँखें खुल जायँ, तुम भी संसार के अन्य जीवों के समान देखने लगो। मेरे उस समय के आनन्द का कोई अनुमान नहीं लगा सकता। आह ? यदि ऐसा हो जाय तो—"

यह कहते कहते वे अपने काल्पनिक सुख में निमग्न हो गये। थोड़ी देर के बाद फिर बोले—"डाक्टर कहते हैं कि जन्मान्ध के सिवा सबकी आँखें ठीक हो सकती हैं, परन्तु डाक्टर निपुण होना चाहिए। मेरा एक मित्र अमरीका गया था, आँखें बनाना सीख कर आया है। थोड़े ही समय में उनके नाम की दूर दूर तक धूम मच गई है। आज उनसे भेंट हुई। बड़े प्रेम से मिले और बलात् खींच कर अपने मकान पर ले गये। वहाँ बातचीत में तुम्हारा ज़िक्र आ गया। बोले यदि जन्मान्ध नहीं तो मैं एक महीने में ठीक कर दूँगा।"

मैं कुछ देर चुप रही और फिर बोली—"रहने दो, मैं अच्छी होकर क्या करूँगी।"

"नहीं अब मैं अपनी ओर से पूरा पूरा प्रयत्न करूँगा।"

"मुझे डर है कि मैं—"

"यदि आँखें खुल गईं तो प्रसन्न हो जाओगी।"

"और यदि प्रयत्न निष्फल गया तो फिर ?"

"भगवान् का नाम लो। उसी के हाथ में सबकी लाज है। इस समय सौ से अधिक अन्धों का इलाज कर चुका है, परन्तु एक के सिवा सब उसके गुण गा रहे हैं।"

मैंने धड़कते हुए दिल की धड़कन दबा कर कहा—"ऐसा योग्य है ?"

"योग्य क्या इस युग का धन्वन्तरि है।"

"तो तुम्हें आशा है ? मैं देखने लगूँगी।"

"आशा की क्या बात है। मुझे तो पूरा विश्वास है कि अब मेरा भाग्य पलटने में देर नहीं।"

मैंने बेटे को हृदय से लगा लिया और रोने लगी। हृदय में विचार-तरङ्गें उठने लगीं। अब वहाँ निराशा की शान्ति नहीं रही थी, उसका स्थान आशामयी अशान्ति ने ले लिया था। मस्तिष्क में सहस्रों विचार आ रहे थे। उनके, पुत्र के, पृथ्वी-आकाश के, फूलों के, सूरज के, चन्द्रमा-तारों के रूप के विषय में अनुमान के घोड़े दौड़ा रही थी। सोचती थी आँखें खुल जायँ तो एक मन्दिर बनवा दूँ, तीर्थ-यात्रा करूँ

और अनाथालयों के नाम चन्दा बाँध दूँ। माता-पिता सुनेंगे तो दंग रह जायँगे, सहेलियाँ बधाई देने आयँगी, परन्तु इस खुशी में एक बड़ा भोज देना आवश्यक हो जायगा। उनकी कितनी उत्कण्ठा है कि शाम को मुझे साथ लेकर बग्घो पर निकलें, परन्तु नेत्रों का दोष रास्ता रोक लेता है। यदि डाक्टर का परिश्रम सफल हो जाय तो हाथों के कड़े उतार दूँ और उसकी पत्नी को बुलाकर रेशमी जोड़ा दूँ।

मैं डाक्टर के आने की इस तरह प्रतीक्षा करने लगी, जैसे उसके आने के साथ ही मेरी आँखें खुल जायँगी। आशा ने मस्तिष्क को उलझन में डाल दिया था। एकाएक दरवाज़े पर किसी मोटर के आकर रुकने की आवाज़ आई। मेरी देह काँपने लगी। निराशा के विचार ने गला पकड़ लिया। इतने में वे अन्दर आ गये और बोले—"डाक्टर साहब आ गये हैं।"

मैंने साड़ी को सिर पर ठीक कर लिया और सँभल कर हो बैठी, परन्तु हृदय ज़ोर ज़ोर से धड़क रहा था। डाक्टर साहब मेरी आँखों को देखने लगे। कुछ देर सन्नाटा रहा और तब उन्होंने किलकारी मार कर कहा—"मुझे पूरा निश्चय है कि तुम्हारी आँखें बन जायँगी।"

जितना सुख किसी भिखारी को यह सुन कर होता है कि तुम्हें राज मिल जायगा उससे अधिक सुख मुझे डाक्टर साहब के इस वचन से हुआ और मैंने हठात् अपने स्थान से उठ कर

दोनों हाथ बाँधे और उमँड़ते हुए हार्दिक भावों से काँपती हुई आवाज़ में कहा—

"डाक्टर साहब! आपका यह उपकार जन्म भर न भूलेगा।"

उस समय मेरी आवाज़ में प्रार्थना और प्रफुल्लता के वे अंश मिले हुए थे जो केवल अपराधियों की ही आवाज़ में पाये जाते हैं। आँखों के खुल जाने की आशा ने वर्षों की शान्ति और संतोष को इस प्रकार उड़ा दिया था; जैसे किसी सेठ के आने से पहले-पहल मालिक-मकान अपने ग़रीब किरायादार को निठुरता से बाहर निकाल देता है।

(६)

आपरेशन हुआ और बड़ी सफलता से हुआ। वे फूले न समाते थे। कहते थे, अब केवल थोड़े दिनों की बात है, तुम संसार के प्रत्येक दृश्य को देख सकोगी। मेरा सुख पहले अधूरा था, अब पूरा होगा। मुझसे कहते, तुम्हें इस समय तक पता नहीं और यदि पता है तो तुम पूर्ण रूप से अनुभव नहीं कर सकतीं कि आँखों का न होना तुम पर प्रकृति का कैसा अत्याचार था। तनिक यह पट्टी खुल जाने दो, फिर पूछूँगा। एक दिन के लिए आँखें दुखने लगें और अँधेरे में बैठना पड़े तो कलेजा घबराने लगता है। जी चाहता है, दरवाज़े तोड़ कर बाहर निकल जायँ, परन्तु तुम लगातार कई वर्षों से इसी अवस्था में हो और फिर भी—"

मैंने अपनी व्याकुलता से भरी हुई प्रसन्नता को छिपाने की चेष्टा करते हुए कहा—"तो क्या मैं देखने लगूँगी ? यह आपको निश्चय है ?"

"निस्सन्देह तेरह दिन के पश्चात् ।"

"बहुत प्रसन्न हो रहे होंगे ?"

"कुछ न पूछो । मेरा एक एक क्षण साल साल के बराबर बीत रहा है । मैं झुँझला उठता हूँ कि यह समय शीघ्र क्यों नहीं बीत जाता । मैं तेरहवें दिन के लिए पागल हो रहा हूँ ।"

"और यदि यह प्रसन्नता, यह आशा निर्मूल सिद्ध हुई, तो ?"

"यह नहीं हो सकता । यह असम्भव है ।"

"आशा प्रायः धोखे दिया करती है ।"

"परन्तु यह आशा नहीं है ।"

सचमुच यह आशा नहीं थी । स्वयं मुझे भी निश्चय था कि यह आशा नहीं है । फिर भी मैंने उनके हृदय की थाह लेने और अपने विश्वास को और दृढ़ करने के विचार से पूछा—"क्यों ?"

"डाक्टर ने कहा है ?"

"परन्तु डाक्टर परमात्मा नहीं है ।"

थोड़ी देर के लिए वे चुप हो गये, जैसे आनन्द की कल्पना में किसी दुःख का विचार आ जाय और फिर मेरे दोनों हाथों को अपने हाथों में दबा कर बोले—"डाक्टर अपनी विद्या में अद्वितीय है । उसका वचन झूठा नहीं हो सकता । मैं इस

समय ऐसा प्रसन्न हूँ, जैसे किसी राजा ने इम्पीरियल बैङ्क के नाम चिक दे दिया हो। अब रुपया मिल जाने में कोई सन्देह नहीं है। केवल तेरहवें दिन की प्रतीक्षा है। न राजा दीवालिया हो सकता है, न डाक्टर का वचन झूठा हो सकता है। तुम यों ही अपने संदेह से मेरे हृदय को विकल कर रही हो।"

बारह दिन बीत गये। अब केवल एक दिन शेष था। सोचती थी, कल क्या होगा? कभी आशा हृदय की कली खिला देती थी, कभी निराशा हृदय में हलचल मचा देती थी। मैंने आँखों पर पट्टी बाँध कर बारह दिन बिता दिये थे, अब एक दिन बिताना कठिन हो गया। जैसे यात्री पड़ाव के निकट पहुँच कर घबरा जाता है। उस समय उसके हृदय में कैसी उद्विग्नता होती है, कैसी अधीरता। वह घण्टों की राह मिनटों में तय करना चाहता है। बार बार झुँझला उठता है, जैसे किसी ने काँटे चुभो दिये हों। यही दशा मेरी थी। मैं चाहती थी, यह दिन एक क्षण बन कर उड़ जाय और मैं पट्टी आँखों से उतार कर फेंक दूँ। परन्तु प्रकृति के अटल नियम को किसने बदला है। समय ने उसी प्रकार धीरे धीरे अपने मिनटों के पैरों से चलना जारी रक्खा। उसे मेरी क्या परवा थी?

सायङ्काल था। वे कचहरी से वापस आये और सूरजपाल को (यह मेरे बेटे का नाम है।) उठाये हुए कमरे के अन्दर आये और मेरे पास बैठ कर बोले—"कल इस समय क्या होगा?"

मैंने हाथ बाँध कर ऊपर की ओर सिर उठाया और कहा—

"परमात्मा दया करे।"

"और वह अवश्य करेगा।"

जैसे ढोलक पर हाथ मारने से गूँज उत्पन्न होती है, उसी प्रकार इस वाक्य से मेरे हृदय में गूँज उत्पन्न हुई। यह गूँज कैसी प्यारी थी, कैसी आनन्ददायक! इसमें दूर के ढोल का सुहावनापन था, स्वप्न-सङ्गीत का जादू। सोचने लगी क्या यह सम्मोहिनी निकट पहुँच कर भी ऐसी ही बनी रहेगी, क्या यह जादू जागने के पश्चात् भी स्थिर रहेगा? एकाएक उन्होंने कहा—"कैसी गरमी है। बैठना कठिन हो गया।"

मैंने पङ्खे की रस्सी पकड़ ली और कहा—"पङ्खा करूँ?"

कमरे में गरमी कोई इतनी अधिक न थी, परन्तु वे बाहर से आये थे, इसलिए उनका दम घुटने लगा। क्रोध से बोले—"पङ्खा-कुली कहाँ गया। मैं मार मार कर उसका दम निकाल दूँगा।"

"चलो जाने दो, बेचारा सारा दिन पङ्खा खींचता रहता है। थक कर ज़रा बाहर चला गया होगा। खिड़की क्यों न खोल दूँ, सूरज भी घबरा रहा है।

यह सुन कर वह उछल पड़े, जैसे किसी गठकतरे ने उनकी जेब में हाथ डाल दिया हो, बोले—"क्या कहती हो, खिड़की खोल दूँ। तुम्हें मालूम नहीं कि डाक्टर ने कितना सावधान रहने को कहा है।"

"परन्तु अब तो सायङ्काल हो चुका है। कितने बजे होंगे ?"

"साढ़े छः बज चुके हैं।"

"तो अब क्या हर्ज है ? थोड़ी सी खिड़की खोल दो, मेरी आँखों पर पट्टी बँधी है।"

उन्होंने बहुत कहा, पर मैंने एक न सुनी और उठकर खिड़की खोल दी। सूरज ने तालियाँ बजाईं और खिल-खिलाकर हँसने लगा। उसकी हँसी देखने के लिए मैं अधीर हो गई, परन्तु आँखों पर पट्टी बँधी थी।

इतने में सूरज खिड़की पर चढ़ गया और खेलने लगा। वह इस समय बहुत ही प्रसन्न था। पंछियों की नाईं चह-कता था। उसे कोई विचार, कोई भय, कोई चिन्ता न थी।

"सूरज शीशा छोड़ दो, टूट जायगा।"

परन्तु सूरज ने सुना अनसुना कर दिया और शीशे के सामने खड़ा होकर अपना मुँह देखने लगा। एकाएक उसने (मैंने पीछे सुना था) शीशे में इस तरह मुँह बनाकर देखा कि वे सहसा चिल्ला उठे---"ज़रा देखना।"

मुझे अपनी अवस्था का विचार न रहा। मैं भूल गई कि यह समय बड़ा विकट है। मैं अन्धी हूँ, मुझे एक दिन के लिए सन्तोष करना चाहिए। इस समय की थोड़ी सी असावधानी मेरे सारे जीवन को नाश कर देगी और फिर मेरी आँखों को कोई शक्ति किसी उपाय से भी न खोल सकेगी,

यह विचार न रहा। मैं पागल हो गई। मेरी ऐसी अवस्था आज तक कभी न हुई थी। मेरे हाथ मेरे बस में न रहे। उन्होंने पट्टी को उतार कर भूमि पर फेंक दिया और मैंने आँखें खोलीं।

मैं देख सकती थी। मैंने एक ही दृष्टि में उनको, बेटे को और खिड़की में से दिखाई देनेवाले बाहर के बाग़ के एक भाग को देखा, और खुशी से चिल्ला उठी—"मैंने तुमको देख लिया।"

उन्होंने आश्चर्य्य, भय और प्रसन्नता की मिली-जुली दृष्टि से मेरी ओर देखा। परन्तु अभी मेरी आँखें उनकी आँखों से मिलने न पाई थीं, कि चारों ओर फिर अन्धकार छा गया और मेरी अँधेरी दुनिया ने उनकी प्यारी प्यारी सूरतों को फिर अपने अन्दर छिपा लिया। मैंने ठण्डी आह भरी और पछाड़ खाकर गिर पड़ी। बैंक से रुपया मिल गया था और समय से पहले। परन्तु मेरी असावधानी ने उसे पानी में गिरा दिया।

अब मेरे लिए कोई आशा न थी। मैंने उसके द्वार अपने हाथों से बन्द कर लिये थे। कई दिन तक रोती रही। वे मुझे धीरज देते थे। कहते थे, न सही, तुम जीती रहो, इसी प्रकार निभ जायगी। परन्तु इन धीरज की बातों से मुझको सन्तोष न होता था, उलटा मेरे घावों पर नोन छिड़क जाता था। मेरा विचार था कि एक बार आँखें खुल जाने से मैं प्रसन्न हो जाऊँगी, यह झूठ सिद्ध

हुआ। एक क्षण की दृष्टि से अपने दुर्भाग्य का दुःखमय अनुभव हो जाता है। इसका अनुमोदन हो गया।

(७)

कहते हैं, प्रत्येक काली घटा के गिर्द सफ़ेद धारी होती है। मेरी विपत्ति अपने साथ एक ज्योति लाई। यह आशा की ज्योति न थी जो कभी बढ़ती है, कभी घट जाती है। यह नैराश्य विश्वास की ज्योति थी, जो सदा बढ़ती है, घटती नहीं। मैं पति और पुत्र दोनों को देख चुकी थी। सुना है, फूल सुन्दर होते हैं। यदि यह सच है तो मैं कह सकती हूँ कि मैंने क्षण-मात्र की दृष्टि में दो अति सुन्दर फूल देखे हैं और उनसे अच्छी वस्तु देखना मेरे लिए सम्भव नहीं। वे आज भी मेरी अन्धकारमयी सृष्टि में उसी प्रकार हरे-भरे और प्रफुल्लित हैं। उनकी सूरतें मेरे हृदय-पट पर अङ्कित हो चुकी हैं और संसार की कोई शक्ति, कोई वस्तु, कोई सत्ता उन्हें न मिटाती है, न मिटा सकती है। यदि मैं अधिक मनुष्य देख लेती तो कदाचित् मुझे कभी कभी उनका भी विचार आ जाता और वे भी मेरे हृदय की चित्रशाला में थोड़े से स्थान पर अङ्कित हो जाते। अथवा उनके चेहरों पर मेरे पति और पुत्र के चेहरों की रूप-रेखायें अस्त-व्यस्त हो जातीं। परन्तु अब यह आशङ्का नहीं रही। मैंने बाहर की ओर से आँखें बन्द करके उन दो सुन्दर मूर्तियों को अपने हृदय में अमर जीवन दे दिया है।

कुछ समय के बाद नगर में चेचक फूट पड़ी। सूरजपाल रोके न रुकता था। दौड़ दौड़ कर बाहर चला जाता था। वे कहते थे, इसे बाहर न निकलने दो, यह मेरे जीवन का आधार है, यदि इसे कुछ हो गया तो मेरा जीवन नष्ट हो जायगा। परन्तु बच्चे के पैरों में ज़ंजीर किसने डाली है। वह नौकरों की आँख बचा कर निकल जाता और कई कई घण्टे लड़कों के साथ खेलता रहता था। अन्त में उसे भी इस रोग ने जकड़ लिया। वे घबरा गये, जैसे उन पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा हो। दिन-रात पास बैठे रहते। उन्होंने कचहरी जाना छोड़ दिया था। कहते थे, परमात्मा करे मैं इस मुक़दमा में जीत जाऊँ। मैं और कुछ नहीं चाहता, मेरा बच्चा बच जाय। जिस प्रकार हिरन अपने बच्चे को बचाने के लिए स्वयं अपने आपको मृत्यु के मुँह में दे देता है, उसी प्रकार उन्होंने सूरजपाल की ख़ातिर अपना जीवन ख़तरे में डाल दिया। हर समय उसके साथ लेटे रहते थे। परिणाम यह हुआ कि सूरजपाल की सेवा-शुश्रूषा करते करते आप भी बीमार हो गये। अब मेरे व्याकुल हृदय में तूफ़ान उठने लगे। मेरे पास केवल दो फूल थे। और उन दोनों को प्रकृति का निर्दयी हाथ तोड़ने के पीछे पड़ा था। परन्तु मैंने अपनी जान लड़ा दी और अपने दिखाई देनेवाले समान दिन-रात को उनकी सेवा में एक कर दिया। और परमात्मा ने मुझ अबला के परिश्रम को सफल किया—दोनों नीरोग हो गये।

मेरे आनन्द का ठिकाना न था। आँगन में उछलती फिरती थी, जैसे किसी का डूबा हुआ धन मिल जाय। उन्होंने आकर कृतज्ञता के भाव से मेरा हाथ अपने निर्बल हाथ में लिया और धीरे से कहा--"तुमने हमें मृत्यु के मुख से खींचा है, नहीं तो—।"

मैंने उनके मुँह पर हाथ रख दिया और कहा—"बस इसके आगे एक शब्द भी न कहो। मेरे कान यह सुनने की शक्ति नहीं रखते।"

वे चुप हो गये, परन्तु थोड़ी देर के बाद मुझे मालूम हुआ कि वे रो रहे हैं। मेरे हाथ पर पानी की दो गरम बूँदें टपकीं।

"क्यों, रोते क्यों हो? अब तो कोई ख़तरा नहीं।"

यह सुन कर वे सिसकियाँ भर भर कर रोने लगे। मैं उनके गले से लिपट गई, जिस प्रकार सूरजपाल मेरे गले से लिपट जाया करता है। मैंने पूछा—"तुम बताओ, तुम क्यों रो रहे हो? मेरा कलेजा फट जायगा।"

उन्होंने उत्तर देने की चेष्टा की, परन्तु उनके प्रत्येक शब्द को उनकी लगातार सिसकियों ने इस प्रकार निगल लिया, जिस प्रकार किसी अन्धी लड़की की नेत्र-कल्पनाओं को व्याकुलता निगल जाती है। वे रो रहे थे। जब दुःख का बोझ हलका हुआ और उनकी जिह्वा को बोलने की शक्ति प्राप्त हुई तब उन्होंने मेरा हाथ अपने

मुँह पर रख लिया और रुक रुक कर कहा, 'यदि तुम देख सकतीं तो तुम्हें ऐसा दृश्य दिखाई देता कि तुम मूर्छित हो जातीं।"

मैं कुछ समझ न सकी, मस्तिष्क पर ज़ोर देते हुए बोली—"तुम्हारा क्या अभिप्राय है। साफ़ साफ़ कहो।"

"मेरी और तुम्हारे सूरजपाल की सूरत ऐसी बदल गई है कि देख कर डर आता है।"

यह कह कर वे चुप हो गये।

मैं बैठी थी, खड़ी हो गई, और चिल्ला कर बोली—"परन्तु मेरी आँखों में जो तुम्हारी सूरतें समा चुकी हैं, उन्हें कौन बदल सकता है। संसार की आँखों में तुम बदल जाओ, परन्तु मेरी आँखों में तुम सदा वैसे ही सुन्दर, वैसे ही मनोहर हो। मैं सोचती थी, परमात्मा ने दूसरी बार मेरी आँखें छीन कर मुझ पर अन्याय किया है। परन्तु आज मालूम हुआ कि इस अन्याय के परदे में उसकी अपार दया छिपी थी।

यह कह कर मैंने उनके गले में भुजायें डाल दीं और उनके बालों में धीरे धीरे अपनी उँगलियाँ फेरने लगी।

इस समय मेरी अँधेरी दुनिया में ऐसा प्रकाश था, जो बयान नहीं किया जा सकता।

हार की जीत

(१)

माँ को अपने बेटे, साहूकार को अपने देनदार और किसान को अपने लहलहाते खेत देख कर जो आनन्द आता है, वही आनन्द बाबा भारती को अपना घोड़ा देखकर आता था। भगवद्भजन से जो समय बचता, वह घोड़े के अर्पण हो जाता। यह घोड़ा बड़ा सुन्दर था, बड़ा बलवान्। इसके जोड़ का घोड़ा सारे इलाक़े में न था। बाबा भारती उसे सुलतान कह कर पुकारते, अपने हाथ से खरहरा करते, खुद दाना खिलाते, और देख-देख कर प्रसन्न होते थे। ऐसी लगन, ऐसे आदर, ऐसे स्नेह से कोई सच्चा प्रेमी अपने साजन को भी न चाहता होगा। उन्होंने अपना सब कुछ छोड़ दिया था—रुपया, माल, असबाब ज़मीन; यहाँ तक कि उन्हें नागरिक जीवन से भी घृणा थी। अब एक गाँव से बाहर छोटे-से मन्दिर में रहते और भगवान् का भजन करते थे। परन्तु सुलतान से बिछुड़ने की वेदना उनके लिए असह्य थी। मैं इसके बिना नहीं रह सकूँगा, उन्हें ऐसी भ्रांति सी हो गई थी। वह उसकी चाल पर लट्टू थे। कहते, ऐसे चलता है, जैसे मोर घन-घटा को देख कर नाच रहा हो। गाँवों के लोग इस मोह-माया को देख कर चकित

थे; कभी कभी कनखियों से इशारे भी करते थे, परन्तु बाबा भारती को इसकी परवा न थी। जब तक संध्या-समय सुलतान पर चढ़ कर आठ-दस मील का चक्कर न लगा लेते, उन्हें चैन न आती।

खड्गसिंह उस इलाक़े का प्रसिद्ध डाकू था। लोग उसका नाम सुनकर काँपते थे। होते-होते सुलतान की कीर्ति उसके कानों तक भी पहुँची। उसका हृदय उसे देखने के लिए अधीर हो उठा। वह एक दिन दोपहर के समय बाबा भारती के पास पहुँचा, और नमस्कार करके बैठ गया।

बाबा भारती ने पूछा—"खड्गसिंह, क्या हाल है?"

खड्गसिंह ने सिर झुकाकर उत्तर दिया—"आपकी दया है।"

"कहो, इधर कैसे आगये?"

"सुलतान की चाह खींच लाई।"

"विचित्र जानवर है। देखोगे, तो प्रसन्न हो जाओगे।"

"मैंने भी बड़ी प्रशंसा सुनी है।"

"उसकी चाल तुम्हारा मन मोह लेगी।"

"कहते हैं, देखने में भी बड़ा सुन्दर है।"

"क्या कहना। जो उसे एक बार देख लेता है, उसके हृदय पर उसकी छवि अंकित हो जाती है।"

"बहुत दिनों से अभिलाषा थी, आज उपस्थित हो गया हूँ।"

बाबा और खड्गसिंह, दोनों अस्तबल में पहुँचे। बाबा ने घोड़ा दिखाया घमंड से। खड्गसिंह ने घोड़ा देखा आश्चर्य से। उसने सहस्रों घोड़े देखे थे; परन्तु ऐसा बाँका घोड़ा उसकी आँखों से कभी न गुज़रा था। सोचने लगा, भाग्य की बात है। ऐसा घोड़ा खड्गसिंह के पास होना चाहिए था। इस साधु को ऐसी चीज़ों से क्या मतलब? कुछ देर तक आश्चर्य से चुपचाप खड़ा रहा। इसके पश्चात् हृदय में हलचल होने लगी, बालकों की सी अधीरता से बोला—"परन्तु बाबाजी इसकी चाल न देखी, तो क्या देखा?"

(२)

बाबाजी भी मनुष्य ही थे। अपनी वस्तु की प्रशंसा दूसरे के मुख से सुनने के लिए उनका हृदय भी अधीर हो गया। घोड़े को खोल कर बाहर लाये, और उसकी पीठ पर हाथ फेरने लगे। एकाएक उचक कर सवार हो गये, घोड़ा वायु-वेग से उड़ने लगा। उसकी चाल देख कर, उसकी गति देख कर खड्गसिंह के हृदय पर साँप लोट गया। वह डाकू था, और जो वस्तु उसे पसन्द आ जाय, उस पर अपना अधिकार समझता था। उसके पास बाहु-बल था, और रुपया था, और आदमी थे। जाते-जाते बोला—"बाबाजी! मैं यह घोड़ा आपके पास न रहने दूँगा।"

बाबा भारती डर गये। अब उन्हें रात को नींद न आती थी। सारी रात अस्तबल की रखवाली में कटने लगी। प्रतिक्षण

खड्गसिंह का भय लगा रहता। परन्तु कई मास बीत गये, और वह न आया। यहाँ तक कि बाबा भारती कुछ लापरवा हो गये, और इस भय को स्वप्न के भय की नाईं मिथ्या समझने लगे।

संध्या का समय था। बाबा भारती सुलतान की पीठ पर सवार होकर घूमने जा रहे थे। इस समय उनकी आँखों में चमक थी, मुख पर प्रसन्नता। कभी घोड़े के शरीर को देखते, कभी रङ्ग को, और मन में फूले न समाते थे।

सहसा एक ओर से आवाज़ आई—"ओ बाबा! इस कँगले की भी बात सुनते जाना।"

आवाज़ में करुणा थी, बाबा ने घोड़े को थाम लिया। देखा, एक अपाहिज वृक्ष की छाया में पड़ा कराह रहा है। बोले—"क्यों, तुम्हें क्या कष्ट है?"

अपाहिज ने हाथ जोड़ कर कहा—"बाबा, मैं दुखिया हूँ। मुझ पर दया करो। रामाँवाला यहाँ से तीन मील है; मुझे वहाँ जाना है। घोड़े पर चढ़ा लो, परमात्मा तुम्हारा भला करेगा।"

"वहाँ तुम्हारा कौन है?"

"दुर्गादत्त वैद्य का नाम आपने सुना होगा। मैं उनका सौतेला भाई हूँ।"

बाबा भारती ने घोड़े से उतर कर अपाहिज को घोड़े पर सवार किया, और स्वयं उसकी लगाम पकड़ कर धीरे-धीरे चलने लगे।

सहसा उन्हें एक झटका-सा लगा, और लगाम हाथ से छूट गई। उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उन्होंने देखा कि अपाहिज घोड़े की पीठ पर तन कर बैठा है, और घोड़े को दौड़ाये लिये जा रहा है। उनके मुख से भय, विस्मय और निराशा से मिली हुई चीख़ निकल गई—यह अपाहिज खड्ग-सिंह डाकू था।

बाबा भारती कुछ देर तक चुप रहे, और इसके पश्चात् कुछ निश्चय करके पूरे बल से चिल्लाकर बोले—"ज़रा ठहर जाओ।"

खड्गसिंह ने यह आवाज़ सुन कर घोड़ा रोक लिया, और उसकी गर्दन पर प्यार से हाथ फेरते हुए कहा—"बाबाजी, यह घोड़ा अब न दूँगा।"

"परन्तु एक बात सुनते जाओ।"

खड्गसिंह ठहर गया। बाबा भारती ने निकट जाकर उसकी ओर ऐसी आँखों से देखा, जैसे बकरा क़साई की ओर देखता है, और कहा—"यह घोड़ा तुम्हारा हो चुका। मैं तुमसे इसे वापस करने के लिए न कहूँगा। परन्तु खड्गसिंह! केवल एक प्रार्थना करता हूँ, उसे अस्वीकार न करना; नहीं तो मेरा दिल टूट जायगा।"

"बाबाजी, आज्ञा कीजिए। मैं आपका दास हूँ; केवल यह घोड़ा न दूँगा।"

"अब घोड़े का नाम न लो, मैं तुमसे इसके विषय में कुछ

न कहूँगा। मेरी प्रार्थना केवल यह है कि इस घटना को किसी के सामने प्रकट न करना।"

खड्गसिंह का मुँह आश्चर्य से खुला रह गया। उसका विचार था कि मुझे इस घोड़े को लेकर यहाँ से भागना पड़ेगा, परन्तु बाबा भारती ने स्वयं उससे कहा कि इस घटना को किसी के सामने प्रकट न करना। इससे क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? खड्गसिंह ने बहुत सोचा, बहुत सिर मारा; परन्तु कुछ समझ न सका। हारकर उसने अपनी आँखें बाबा भारती के मुख पर गड़ा दीं, और पूछा—"बाबाजी, इसमें आपको क्या डर है?"

बाबा भारती ने उत्तर दिया—"लोगों को यदि इस घटना का पता लग गया, तो वे किसी ग़रीब पर विश्वास न करेंगे।

और यह कहते-कहते उन्होंने सुलतान की ओर से इस तरह मुँह मोड़ लिया, जैसे उनका उससे कभी कोई संबन्ध ही न था। बाबा भारती चले गये; परन्तु उनके शब्द खड्गसिंह के कानों में उसी प्रकार गूँज रहे थे। सोचता था, कैसे उच्च विचार हैं? कैसा पवित्र भाव है? उन्हें इस घोड़े से प्रेम था। इसे देखकर उनका मुख फूल की नाईं खिल जाता था। कहते थे, इसके बिना मैं रह न सकूँगा। इसकी रखवाली में वह कई रातें सोये नहीं। भजन-भक्ति के बदले रखवाली करते रहे! परन्तु आज उनके मुख पर चिन्ता की रेखा तक न देख पड़ती

थी। उन्हें केवल यह ख़याल था कि कहीं लोग ग़रीबों पर विश्वास करना न छोड़ दें। उन्होंने अपनी निज की हानि को मनुष्यत्व की हानि पर न्योछावर कर दिया। ऐसा मनुष्य मनुष्य नहीं, देवता है।

(३)

रात्रि के अंधकार में खड्गसिंह बाबा भारती के मंदिर में पहुँचा। चारों ओर सन्नाटा था। आकाश पर तारे टिम-टिमा रहे थे। थोड़ी दूर पर गाँवों के कुत्ते भोंकते थे। मंदिर के अन्दर कोई शब्द सुनाई न देता था। खड्गसिंह सुलतान की बाग पकड़े हुए था। वह धीरे-धीरे अस्तबल के फाटक पर पहुँचा। फाटक किसी वियोगी की आँखों की तरह चौपट खुला था। किसी समय वहाँ बाबा भारती स्वयं लाठी लेकर पहरा देते थे; परन्तु आज उन्हें किसी चोरी, किसी डाके का भय न था। हानि ने उन्हें हानि की ओर से बेपरवा कर दिया था। खड्गसिंह ने आगे बढ़ कर सुलतान को उसके स्थान पर बाँध दिया, और बाहर निकलकर सावधानी से फाटक बन्द किया। इस समय उसकी आँखों में पश्चात्ताप के आँसू थे।

अन्धकार में रात्रि ने तीसरा पहर समाप्त किया, और चौथा पहर आरम्भ होते ही बाबा भारती ने अपनी कुटिया से बाहर निकल ठण्डे जल से स्नान किया। उसके पश्चात्

इस प्रकार जैसे कोई स्वप्न में चल रहा हो, उनके पाँव अस्तबल की ओर मुड़े। परन्तु फाटक पर पहुँच कर उनको अपनी भूल प्रतीत हुई, साथ ही घोर निराशा ने पाँवों को मन-मन-भर का भारी बना दिया। वह वहीं रुक गये।

घोड़े ने स्वाभाविक मेधा से अपने स्वामी के पाँवों की चाप को पहचान लिया, और ज़ोर से हिनहिनाया।

बाबा भारती दौड़ते हुए अन्दर घुसे, और अपने घोड़े के गले से लिपटकर इस प्रकार रोने लगे, जैसे बिछुड़ा हुआ पिता चिरकाल के पश्चात् पुत्र से मिल कर रोता है। बार-बार उसकी पीठ पर हाथ फेरते थे, बार-बार उसके मुँह पर थपकियाँ देते थे, और कहते थे—अब कोई ग़रीबों की सहायता से मुँह न मोड़ेगा।

थोड़ी देर के बाद जब वह अस्तबल से बाहर निकले, तो उनकी आँखों से आँसू बह रहे थे। ये आँसू उसी भूमि पर ठीक उसी जगह गिर रहे थे, जहाँ बाहर निकलने के बाद खड्गसिंह खड़ा होकर रोया था।

दोनों के आँसुओं का उस भूमि की मिट्टी पर परस्पर मेल हो गया।

———

बलिदान ।

(१)

बड़ा बाज़ार, वज़ीराबाद

प्यारे अमीरचन्द, ३ नवम्बर, १९१५

तुम्हारा पत्र मिला, पढ़ कर चिन्ता हुई। भाई, मेरी मानो तो मामला जितनी जल्दी हो सके तय कर डालो। यह बात अब अधिक समय तक छिपी नहीं रहेगी। "प्रेम छिपाये नहिं छिपे चाहे लाख छिपाय" की कहावत झूठ नहीं है और मुझे तो डर है कि यदि यह बात बाहर निकल गई तो तुम्हारी और उस बेचारी लड़की दोनों की बदनामी होगी। पहले तुम दोनों छोटे थे। उस समय किसी ने ध्यान नहीं दिया। परन्तु अब वह समय चला गया। इस समय तुम्हारी अपनी ही आँखें यह भेद खोल देने के लिए पर्य्याप्त हैं। इसलिए सुगम रस्ता तो यही है कि तुम स्वयं जाकर सन्तराम से मिलो और उसके सम्मुख सारी की सारी बात ठीक ठीक कह दो। वह बुद्धिमान् पुरुष है, नाहीं न करेगा। परन्तु इतना याद रक्खो कि उससे कोई बात छिपाने की आवश्यकता नहीं। देवकी के सम्बन्ध में उसे साफ़ साफ़ पता हो जाना चाहिए कि वह तुमसे अगाध प्रेम

रखती है और उसने दृढ़ सङ्कल्प कर रक्खा है कि यदि उसका ब्याह तुमसे न हुआ तो वह आत्म-हत्या कर लेगी। मेरे विचार में उसे इस ब्याह पर कोई आपत्ति नहीं होगी। केवल एक बात है, जिसकी मुझे कुछ चिन्ता है और वह यह कि सन्तराम अब कुछ पैसेवाला हो गया है, परन्तु इतना नहीं कि तुम्हें तुच्छ समझे और घृणा से देखे। इसके अतिरिक्त तुम्हारे पिता के उपकार उस पर ऐसे नहीं कि वह सिर उठा सके। अस्तु, कुछ भी हो, मेरी सम्मति यही है कि उससे मिलो और खुलो खुलो बातें करो। तुम्हारी भाभी को अब आराम है, तुम्हारा ब्याह देखने की उसे बहुत लालसा है। आशा है, अगले महीने मेरी बदली गुजरात को हो जायगी।

उत्तर शीघ्र देना

तुम्हारा शुभचिन्तक

वज़ीरचन्द

(२)

पेशावर-छावनी

२० नवम्बर, १९१५

मेरी प्यारी देवकी,

मैं आज यहाँ हूँ और दो-चार दिन में यहाँ से भी चला जाऊँगा। कहाँ जाऊँगा ? इसका अभी कुछ ठिकाना नहीं। परन्तु इतना कह देना आवश्यक है कि जहाँ रहूँगा और जिस

दशा में रहूँगा, तुम्हारी माधुरी मूर्ति हृदय पर बराबर अङ्कित रहेगी और घोर अन्धकार के क्षणों में भी तुम्हारा चिन्तन चमकते हुए तारे की तरह मुझे रस्ता दिखलाता रहेगा। सोचता हूँ वह दिन कब आयेगा जब मैं तुम्हें "अपनी देवकी" कह सकूँगा और संसार के किसी भी व्यक्ति को इस पर आक्षेप करने का अधिकार न होगा।

तुम्हारे पिता से मुझे इस उत्तर की कभी भी आशा न थी। कैसे मिलनसार आदमी हैं, किसी ने उनके मुख पर कभी क्रोध की रेखा नहीं देखी। परन्तु उस समय वे बहुत जोश में थे। ऐसा प्रतीत होता था, जैसे बर्फ़ को गरमी आगई हो। कहने लगे, तुम क्या अपने आपको देवकी के योग्य समझते हो? देवकी! तुम से क्या कहूँ, ये शब्द सुनकर मैं पानी पानी हो गया। मुझे ऐसे अपमान की आशा न थी। मैं समझता था, उनसे कह देना ही पर्याप्त होगा। परन्तु उनका मुख तपे हुए ताँबे की तरह लाल हो गया। मैंने साहस करके उत्तर दिया, मैं पूरा पूरा यत्न करूँगा और मुझे पूरी आशा है कि मैं उसे सब प्रकार का सुख पहुँचा सकूँगा। यह सुन कर उन्होंने मुँह फेर लिया और कहा, मैं झूठी आशा के भरोसे अपनी बेटी की आयु नष्ट नहीं कर सकता। मेरा मुँह बन्द हो गया। निरुत्तर होकर मैंने सिर झुका लिया। उस समय मुझे चारों ओर निराशा दिखाई देती थी। एकाएक अन्धकार में बिजली चमक गई।

मैंने फिर सिर ऊपर उठाया और कहा, "परन्तु आप उसका भी कुछ विचार करेंगे या नहीं।"

निराशा आशा का रूप देख रही थी।

उन्होंने पूछा, "उसका विचार, किसका?"

मैंने बड़ी कठिनाई से उत्तर दिया, "देवकी का।"

आग पर तेल पड़ गया। उन्होंने इस प्रकार सिर उठाया, जैसे किसी ने सोता कलह जगा दी हो। उस समय उनका मुख तपा हुआ ताँबा था, आँखें लाल अंगारे। गर्ज कर बोले, "मैं उससे भी समझ लूँगा।"

देवकी, यह मेरे पास ताश का अन्तिम पत्ता था। इस पर मुझे बहुत आशा थी। परन्तु तुम्हारे पिता के उत्तर ने पत्थर मार दिया। आशा कुचले हुए सर्प के समान बैठ गई। मैंने हारे हुए जुआरी की तरह ढीठ होकर कहा—"तो मेरे लिए कोई आशा नहीं?"

इस समय मेरी आवाज़ में निराशा भरी हुई थी।

उनका क्रोध जाता रहा, कुछ शान्ति से मुस्करा कर बोले, "यदि तुम आप कुछ करके दिखाओ तो सब कुछ हो सकता है।"

आशा फिर सामने खड़ी थी। मैंने साहस करके पूछा, "क्या करके दिखाना होगा?"

"कुछ कमा के दिखाओ। मैं अपनी बेटी तुम्हें कैसे ब्याह दूँ, जब तक मुझे विश्वास न हो जाय कि तुम अपने बाहु-बल से अपना और उसका निर्वाह कर सकोगे। तुमने

एफ० ए० तक शिक्षा पाई है, इससे होता क्या है। आज-कल के समय में बी० ए० और एम० ए० ठोकरें खाते फिरते हैं।"

डूबते को तिनके का सहारा मिल गया। मैंने पूछा, "मुझे कितने दिन की अवधि आप देते हैं?"

"दो वर्ष की।"

मैं जोश से तीर की भाँति तन कर खड़ा होगया और यह कहता हुआ बाहर निकल आया कि दो वर्ष के बाद आप मुझे इस दशा में न देखेंगे।"

देवकी, अब मैं यह दो वर्ष समुचित रूप में व्यतीत करूँगा और एक एक क्षण को रुपया पैसे में बदलने का यत्न करूँगा। मुझे सफलता होती है या नहीं, यह भगवान् जानें। परन्तु तुमसे इतना कहना आवश्यक है कि जब कभी निश्चिन्त हो कर अपने कमरे में बैठो उस समय उस अभागे का भी ख़याल कर लिया करो जो तुम्हारे प्रेम की प्राप्ति के लिए देश से परदेश जाकर मज़दूरों की तरह परिश्रम कर रहा है।

देवकी, मेरी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। परमात्मा से प्रार्थना करो कि मुझे अपने उद्देश्य में सफलता हो और मैं तुम्हें "अपनी देवकी" और तुम मुझे "अपना अमीर" समझ सको।

मुझे पत्र लिखने की आवश्यकता नहीं। मैं कब कहाँ

हूँगा, इसके सम्बन्ध में मैं तुम्हें क्या बताऊँ। मैं स्वयं इस समय तक कुछ नहीं जानता।

तुम्हारा प्यारा

अमीरचन्द

(३)

मुहल्ला पुरियाँ,
बटाला
१३ जनवरी, १९१६

चिरञ्जीव सन्तराम,

यहाँ कुशल है। आपकी कुशल श्रीनारायणजी से चाहता हूँ। पत्र आपका मिला, हाल मालूम हुआ। राय-साहब साँझीराम बहुत ज़ोर दे रहे हैं कि ब्याह जल्दी हो जाना चाहिए। वे कहते हैं कि इस एप्रिल में यदि ब्याह न हो गया तो उन्हें बहुत कष्ट होगा। आपको भी सोचना चाहिए कि उनके छोटे छोटे लड़के हैं, स्त्री के बिना एक एक दिन बीतना कठिन है। और यह भी सोचना चाहिए कि शादी ब्याहों में लोग झूठी बातें बहुत उड़ा दिया करते हैं। इसलिए यह काम जितनी जल्दी हो जाय उतना ही अच्छा है। रायसाहब की बहन ने देवकी की बहुत बड़ाई की है और यह घर भी बहुत ऊँचा है। लड़की सारी उमर राज करती रहेगी। सगाई हो जाने में क्या हर्ज है?

उत्तर वापसी डाक से ही देना। चिट्ठी को तार समझना।

परमेश्वरीदास

(४)

मुहल्ला क़िला, गुजरात
२० जनवरी, १९१६

प्यारे अमीरचन्द,

कई दिन बीत गये, तुम्हारा कोई पत्र नहीं मिला। चिन्ता हो रही है। भाई तनिक जल्दी जल्दी अपनी कुशल-क्षेम लिखते रहा करो। इतनी दूर बैठे हो, चार दिन पत्र न आये तो प्राण निकल जाते हैं। तुम्हारे जैसे मनुष्य को, जो इतना परिश्रम कर सकता हो, आलस्य करना उचित नहीं। पन्द्रह पन्द्रह दिन तक चुप साधे रहते हो। तुम्हारी भाभी भी तुम्हारे लिए बहुत चिन्ता करती है।

देवकी प्रतिक्षण तुम्हारे ही चिन्तन में मग्न रहती है। हमारे यहाँ प्राय: आती जाती रहती है। उसका शरीर सूख कर काँटा हो गया है, आँखों में वह कान्ति नहीं रही। प्राय: रोती रहती है। ऐसा जान पड़ता है जैसे वर्षों से बीमार है। परन्तु तुम्हारी भाभी कहती है कि तुम्हारा नाम सुन कर उसका मुँह गुलाब की नाईं खिल जाता है। यार! बड़े भागवान् हो। आज-कल के समय में ऐसी स्त्री मिलनी सहज नहीं। वह तुम्हारी पूजा करती है। बातों

बातों में जब तुम्हारा नाम आ जाता है तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो उसके मृत-शरीर में प्राण आ गये हैं। वह दिन-रात तुम्हारी सफलता और आरोग्यता के लिए प्रार्थनायें करती रहती है। परमात्मा वह दिन शीघ्र लाए जब तुम्हारी दोनों की मनोकामना सिद्ध हो।

तुम्हारे काम का क्या हाल है। लाला हरनामदास का नाम मैंने प्रायः सुना है। कहते हैं, बहुत ही भलामानस है। उसने लकड़ियों के काम में लाखों रुपये कमाये हैं। मित्र, जैसे भी हो सके यत्न करके उसे अपनी मुट्ठी में कर लो। फिर सफलता निश्चित है। परन्तु मुझे डर है कि कहीं जोश में न आ जाओ और उससे बिगाड़ न लो। तुम्हारा स्वभाव बहुत गरम है। तुम्हारी भाभी की ओर से आशीर्वाद, और देवकी की ओर से—

तुम्हारा शुभचिन्तक
वज़ीरचन्द

(५)

मुहल्ला क़िला, गुजरात
२४ जनवरी, १९१६

पूजनीय लाला परमेश्वरीदासजी,

प्रणाम। आपका कृपापत्र पहुँचा; धन्यवाद। मैं स्वयं चाहता हूँ कि यह काम यथासम्भव जल्दी हो जाय। परन्तु कभी कभी ऐसी रुकावटें सामने आ जाती हैं जिनको

रास्ते से हटाना असम्भव हो जाता है। मेरी बूआ की लड़की सावित्री का कल देहान्त हो गया है। जालन्धर के कन्या-महाविद्यालय में पढ़ती थी और अत्यन्त सुशीला थी। अब ऐसी अवस्था में यह बहुत ही कठिन है कि ब्याह शीघ्र हो सके। फिर भी मैं कर दूँगा। आप अपने बताये हुए उपाय पर चलें ताकि देवकी उस समय कुछ गड़बड़ न कर दे।

शेष रही सगाई की बात। मेरे विचार में इसकी आवश्यकता ही नहीं। सगाई और ब्याह एक ही साथ हो जायँगे। और सब प्रकार से कुशल है।

यदि मेरे योग्य कोई सेवा हो तो लिख भेजें।

आपका दास

सन्तराम

(६)

पंजाब-हौस, बन्नू

१७ एप्रिल, १९१६

भाई डीयर वज़ीरचन्द,

सफलता सामने दिखाई दे रही है। देवकी की प्रार्थनायें फलती-फूलती देख पड़ती हैं। लाला हरनामदास अब सर्वथा मेरी मुट्ठी में हैं। उनको मुझ पर पूरा पूरा विश्वास हो गया है। वे अब कोई ऐसा काम नहीं करते जिसमें मुझसे सम्मति न लेते हों। तुम यह सुन कर प्रसन्न होगे कि अब

उन्होंने मेरा मासिक वेतन २००) रुपया कर दिया है और —) पत्ती मुनाफ़ा देने की प्रतिज्ञा की है। इस —) की पत्ती का अर्थ ६,००० रुपया वार्षिक के लगभग है।

परन्तु इस आश्चर्यजनक सफलता का कारण क्या है?

पिछले दिनों लालाजी के एक पुराने मित्र रायसाहब साँझीराम यहाँ आये हुए थे। ये साहब बटाला ज़िला गुरुदासपुर के रहनेवाले हैं और बड़े धनाढ्य हैं। इनके साथ उनका भाई भी था।

साँझ का समय था। रायसाहब और उनका छोटा भाई दोनों सैर के लिए तैयार हुए। लालाजी ने बहुत मना किया। परन्तु रायसाहब ने परवा न की और बाहर चले गये। उनका विचार था कि बहुत दूर नहीं जायँगे और जल्दी लौट आयँगे। परन्तु जो भाग्य में लिखा हो उसे कौन मिटा सकता है। रायसाहब अभी शहर की फ़सील से थोड़ी ही दूर गये थे कि बन्दूक़ चलने की आवाज़ आई। रायसाहब और उनके भाई का लोहू सूख गया। इतने में कुछ सरहदी सामने आ खड़े हुए। रायसाहब का कलेजा हिल गया। शेर को सामने देख कर जो दशा हिरन की हो जाती है वही दशा रायसाहब की हुई। माथे से पसीना टपक पड़ा। मृत्यु की भयानक मूर्ति आँखों के सामने फिर गई। उनका सिर नीचे झुक गया; मिन्नतें करने लगे। परन्तु सरहदियों का हृदय न पसीजा। एक ने आगे बढ़ कर रायसाहब के

सिर पर ज़ोर से बन्दूक़ का दस्ता मारा। रायसाहब मूर्छित हो गये। जब उन्हें सुध आई तब वे दीवार के पास पड़े हुए थे। रात आधी के लगभग बीत चुकी थी और उनके भाई का पता नहीं था।

दूसरे दिन बन्नू में हाहाकार मच गया। लोग रायसाहब को देखने आते थे, मानों वे किसी दूसरी सृष्टि के रहनेवाले हों। हमारे मकान पर मेला लग गया। परन्तु रायसाहब पागल हो रहे थे। उनकी आँखों में आँसू थे, मुँह पर दुःख और शोक की घटायें। वे रह रह कर कहते थे—पता नहीं, भाई का क्या हाल है। मैं यह देखता था और मन ही मन कुढ़ता था। साँझ हुई तो सन्देसा पहुँचा कि तीन दिन के अन्दर अन्दर पचास हज़ार रुपया पहुँचा दो, नहीं तो उसका सिर काट कर भेज दिया जायगा।

रायसाहब धनाढ्य मनुष्य हैं। उन्होंने फ़ैसला किया कि रुपया भेज दिया जाय। परन्तु मैंने रोक दिया और बन्दूक़ लेकर निकल खड़ा हुआ। सारा शहर कहता था, इसकी बुद्धि मारी गई है। स्वयं लालाजी ने भी कहा, तुम्हारी मौत आ गई है। परन्तु मैंने सुना अनसुना कर दिया, और इस तरह जोश में शहर से बाहर निकला, जिस तरह बिफरा हुआ शेर पिँजरे का दरवाज़ा खुलने से शिकार पर झपटता है। कुछ लोग मेरे साथ आये। उनका हृदय मेरे लिए सहानुभूति से भरा हुआ था। परन्तु बाहर आकर उनके

पाँव में जंज़ीरें पड़ गईं। प्राणों के भय ने सहानुभूति के जोश को दबा लिया, जिस प्रकार चन्द्रमा की चाँदनी बादलों में आकर क्षीण हो जाती है। परन्तु मैं जोश में आया हुआ अन्धाधुन्ध उस सड़क पर चल रहा था जिस पर यह घटना हुई थी।

रात आधी से अधिक बीत गई, चारों ओर निस्तब्धता छा गई। कोई और समय होता तो मेरे लिए एक भी पग चलना कठिन हो जाता। परन्तु इस समय हृदय में जोश था, सीने में गरमी। मेरी चाल में बिजली की तेज़ी थी। वज़ीरचन्द, मेरे इस जोश और वीरता की तह में देवकी का विचार लहरें मार रहा था। मैं बार बार सोचता था कि यदि सफलता हुई तो लाला हरनामदास मेरी वीरता पर मुग्ध हो जाएँगे और मेरे प्रेम की सफलता का मार्ग बहुत कुछ साफ़ हो जायगा। मैं मनुष्य हूँ, देवता नहीं हूँ। मैंने दूसरे के हित जान जोखों में डाल दी हो, यह झूठ है। मेरा प्रेम मेरा पथ-प्रदर्शक बन गया था। वज़ीरचन्द! संसार के बड़े से बड़े कार्यों में सौन्दर्य और प्रेम का कितना हाथ है, यह कौन कह सकता है?

मैं सरहदियों के इलाक़े में पहुँच गया। आशा के साथ निराशा लिपटी हुई थी। सोचता था, यदि पकड़ा गया तो मुझे बचानेवाला कौन है? रायसाहब तो धनाढ्य मनुष्य हैं, इस पर लाला हरनामदास उनके मित्र। उनके

भाई के लिए तो थैलियाँ पहुँच जायँगी, परन्तु मेरे लिए कोई सौ रुपये देने को भी तैयार न होगा। आशा के पाँव लड़खड़ा गये। उस दूरी का ध्यान करके, जो मेरे और बन्नू के बीच में थी, मेरे हृदय पर भय छा गया, जिस प्रकार छोटा बालक शिखर पर से पृथ्वी की ओर देख कर काँप जाता है। परन्तु अब डरना व्यर्थ था। अपने बचाव के लिए मैं साहस से आगे बढ़ा, पीछे देखने का साहस न हुआ। एकाएक एक वज़ीरी सामने आया। मेरा शरीर काँपने लगा। उसने मुझे सिर से पाँव तक देख कर पूछा, "तू कौन है ?"

मैंने अपने गिरते हुए साहस को स्थिर करके उत्तर दिया, "जो आदमी कल पकड़ आया है उसके सम्बन्ध में बात-चीत करने आया हूँ।"

"तो वह सामने का मकान है, चले जाओ।"

वज़ीरी चला गया। उसके चले जाने पर मेरी देह में जान आ गई। पिछले पहर का समय था। चारों ओर शान्ति थी। हृदय में हलचल मची हुई थी। मैं कुछ देर ठहर गया। जिस प्रकार अपराधी अपराध करने से पहले हिचकिचाता है। उसके पश्चात् धीरे धीरे उस मकान की ओर बढ़ा। उस समय आशा-निराशा के समुद्र में डुबकियाँ खा रहा था। एकाएक मेरा हृदय हर्ष से उछलने लगा। डूबती आशा को किनारा मिल गया था। दरवाज़ा चौपट खुला था और घर के सब लोग मीठी नींद में ख़र्राटे ले रहे थे। मैं

अत्यन्त सावधानी से आगे बढ़ा। सब सो रहे थे और एक ओर कोने में रायसाहब का भाई चारपाई से जकड़ा हुआ था।

वज़ीरचन्द, मेरी उस समय की अवस्था पर तनिक विचार करो। मैंने होंठों पर उँगली रख कर रायसाहब के भाई को चुप रहने का इशारा किया और उसके बन्द खोलने लगा। परन्तु आँखें उन सोनेवालों की ओर लगी हुई थीं। उनका जागना मौत का जागना था। उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि समय रुक गया है और मेरे हाथों में शक्ति नहीं रही। ज्यों त्यों करके रायसाहब का भाई छूटा और हम दोनों दबे-पाँव बाहर निकले और लम्बे लम्बे डग मारते हुए भागे।

इसके पश्चात् हम किस तरह दिन को खेतों, उजाड़ों, खण्डहरों और गुफाओं में छिपे रहते थे, किस तरह रात को थोड़ा थोड़ा चला करते थे, अन्त में किस तरह बन्नू पहुँचे, और किस तरह लोगों को मेरी सफलता पर आश्चर्य हुआ, ये सब बातें ऐसी हैं जिनके लिखने की आवश्यकता नहीं। जब कभी मिलूँगा तब सब सुनाऊँगा। अन्त में जब हम बन्नू पहुँचे तो शहर में शोर मच गया। लोग मेरी ओर उँगलियाँ उठा उठा कर देखते थे, मानों मैं उनका इष्टदेव हूँ। मैं यह देखता था और मन ही मन प्रसन्न होता था।

दूसरे दिन लाला हरनामदास ने मुझे अपने पास

बुलाया; और कहा, "तुम्हारे साहस से मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ। इस मास से तुम्हारा वेतन २००) कर दिया गया है और मुनाफ़े में —) की पत्ती होगी।

वज़ीरचन्द, मेरा मुँह ख़ुशी से लाल होगया, जैसे गरमी के दिनों में आकाश पर ऊदी घटा छा जाती है। अब मुझे ऐसा प्रतीत होता है मानो देवकी मेरे बहुत निकट है और मैं उसे थोड़ा सा हाथ बढ़ा कर पकड़ सकता हूँ। इससे तुम अनुमान कर सकते हो कि आज-कल मैं कैसा प्रसन्न और प्रफुल्लित हूँ।

यह पत्र देवकी को दिखा देना, देख कर प्रसन्न हो जायगी।

तुम्हारा परदेसी मित्र अमीरचन्द

(७)

पजाब-हौस, बन्नू

४ मई, १९१६

माई डीयर वज़ीरचन्द,

तुम्हारा पत्र मिला, पढ़ कर हृदय बैठ गया। मुझे यह ख़याल भी न था कि ऐसा हो सकेगा। मुझे देवकी से यह आशा न थी। वह मुझे चाहती थी। उसे मुझसे अगाध प्रेम था। बिछुड़ते समय मैंने उसके गालों पर निरन्तर आँसू बहते देखे हैं। उसकी बातों पर मुझे कभी सन्देह नहीं हुआ। अन्तिम भेंट में उसने अपने प्रेम को ऐसे ज़ोरदार शब्दों में

प्रकट किया था कि मैं अचम्भे में आ गया। उसने कहा था, मैं तुम्हारी हूँ, तुम मेरे हो, और हम दोनों एक दूसरे के बिना रह नहीं सकते। परमात्मा ने हमें एक दूसरे के लिए उत्पन्न किया है। जो हमारे रास्ते में खड़ा होगा, पिस जायगा। मैंने पूछा, क्यों देवकी! यदि तुम्हारा पिता तुम्हारा ब्याह किसी दूसरे से कर दे तो क्या करोगी? वज़ीरचन्द! यह सुन कर देवकी का मुँह लाल हो गया, आंखें तमतमाने लगीं। उसने एक क्षण के लिए सोचा और क्रोध से सिर ऊँचा करके उत्तर दिया, यदि ऐसी बात हुई तो ब्याह के पहले ही हवन-कुण्ड में गिर कर जल मरूँगी। उसके ये शब्द अभी तक कानों में गूँज रहे हैं। किसे पता था कि वही देवकी एक धनाढ्य आदमी के साथ चुपचाप ब्याह करा लेगी और उस अभागे का कोई विचार नहीं करेगी जो केवल उसको और उसके प्रेम को जीतने के लिए अपने आपको मौत के मुँह में ढकेलने के लिए तैयार है।

लाला सन्तराम पर मुझे अत्यन्त शोक है। उन्होंने मर्द होकर अपने वचन को पूरा नहीं किया। परन्तु इस पर मुझे आश्चर्य्य नहीं। मुझे आश्चर्य्य देवकी पर है, जिसने स्त्री होकर मुझे ऐसा धोखा दिया और सिद्ध कर दिया कि स्त्री पर विश्वास करना संसार की सबसे बड़ी भूल है। परन्तु वज़ीरचन्द, मुझे अभी तक सन्देह होता है कि यह बात झूठी है। पत्र तुम्हारे नाम से है। तुम्हारे हाथ का लिखा हुआ

है—वही अक्षर, वही काग़ज़, वही स्याही। आँखें पहचानती हैं, परन्तु हृदय कहता है कि नहीं, देवकी यह नहीं कर सकती। निःसन्देह वह मुझसे प्रेम करती थी। पर अब यह क्या हो गया? जब से पत्र पढ़ा है, आँखों से बराबर आँसू टपक रहे हैं। मस्तिष्क में आग सी लग गई है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है मानो मैं पागल हो जाऊँगा।

तुम्हारा अभागा मित्र

अमीरचन्द

(८)

मोहल्ला क़िला, गुजरात

७ जून, १९१८

पूजनीय लाला परमेश्वरीदास,

प्रणाम! बहुत दिन हुए, आपका कोई पत्र नहीं मिला। क्या कारण है? चिरञ्जीव साँझीराम के सम्बन्ध में भी कोई समाचार नहीं प्राप्त हुआ। कई पत्र लिख चुका हूँ, परन्तु किसी का उत्तर नहीं मिला। कृपा करके आप शीघ्र उत्तर दें कि उनका क्या हाल है। और उन्हें मिल कर कहें कि पत्र लिखने में इतनी सुस्ती न किया करें। मेरा दिल घबरा जाता है।

देवकी का क्या हाल है? आशा है, अब उसका स्वभाव पहले सा नहीं रहा होगा, और बावलापन दूर हो गया होगा। आप मानें चाहे न मानें, यह बात अलग

है। परन्तु मुझे यह विचार सदैव दुख देता रहेगा कि मैंने अमीरचन्द से धोखा किया है। वह मेरे ही कहने से इतनी दूर घर से बाहर चला गया। देवकी उसे चाहती थी और मेरा मन कहता है कि यदि उसका ब्याह अमीरचन्द से हो जाता तो निस्सन्देह उसका जीवन अधिक सुखमय होता। वह इस ब्याह से ज़रा भी सहमत नहीं थी। यह तो हमारी चाल चल गई, नहीं तो देवकी तो ब्याह के समय पर कुछ कर गुज़रने को तैयार थी। जब उसने बनावटी पत्र देखा तो उसका प्रेम उससे विमुख हो गया। उसे यह आशा न थी कि अमीरचन्द उससे धोखा करेगा। वह एकाएक जोश में आ गई और उसी समय मैंने आगे बढ़कर अपनी पगड़ी उसके पाँव पर रख दी। गरम लोहे पर हथौड़ा काम कर गया। देवकी रायसाहब से ब्याह करने पर सहमत हो गई। परन्तु फिर भी मुझे विश्वास है कि यदि ब्याह उसी रात न हो जाता तो देवकी फिर अस्वीकार कर देती। उसके प्रतीकार के विचार ने हमारी कठिनाई दूर कर दी, नहीं तो हम कहीं के न रहते। परमात्मा का धन्यवाद है कि देवकी को सन्देह नहीं हुआ। नहीं तो.....

परन्तु यद्यपि अब मुझे इस प्रकार की बातें सोचना भी नहीं चाहिए, मेरे मस्तिष्क में प्रायः यह विचार उठता रहता है कि मैंने पाप किया है और पिता होकर पिता का कर्तव्य पालन नहीं किया। सुना है, अमीरचन्द धन-

दौलत कमाने के लिए सिर तोड़ प्रयत्न कर रहा है, और उसने परदेस में बहुत सा रुपया कमाया है। जब यह समाचार सुनता हूँ तो ऐसा प्रतीत होता है, जैसे किसी ने मुँह पर तमाचा मार दिया है। सोचता हूँ, जब वह वापस आयेगा, तब क्या कहेगा ?.....

आपका दास

सन्तराम

(६)

बटाला

२० जुलाई, १९१६

माई डीयर लाला हरनामदास,

यह ब्याह करके मैं बहुत दुखी हो गया हूँ। दिन रात सोचता रहता हूँ कि कैसी ढिठाई कर बैठा ? सौन्दर्य्य देखकर रीझ गया था, अब पछता रहा हूँ। वह सुन्दरी है, यह मैं मानता हूँ। वह नम्र भी है, इसमें सन्देह नहीं। वह सुशीला भी है, घर का प्रबन्ध उसने पहले की अपेक्षा बहुत अच्छा कर दिया है। अब घर में नौकर लोग लूट नहीं मचा सकते। वह पैसे पैसे का हिसाब रखती है। मेरे साथ उसका बर्ताव बहुत अच्छा है। मुझे देखती है तो आदर से खड़ी हो जाती है। मेरी प्रत्येक इच्छा को अपने लिए आज्ञा समझती है और उसे पूरा करना अपने जीवन का उद्देश समझती है। रात को यदि देर से घर आऊँ तो जागती रहती है, और जब तक मैं न

आऊँ, चाहे सारी रात क्यों न बीत जाय, कभी सोने का विचार तक नहीं करती। यह सब कुछ है, परन्तु उसे मुझसे प्रेम नहीं। उसकी आँखें, उसका मुख, उसकी आकृति सब साफ़ साफ़ कहते हैं कि देवकी के शरीर पर मेरा अधिकार है, परन्तु हृदय पर कोई और विचार शासन करता है। उसके समीप जाते हुए मेरा हृदय काँप जाता है। मैं उससे दूर रहना चाहता हूँ, मानो वह सुन्दर नागिन है। उसके पास बैठ कर मेरे मन पर बोझ सा पड़ जाता है और चित्त उदास हो जाता है। मैं ब्याह करके भी कुँवारपन का जीवन बिता रहा हूँ। वह मेरा आदर करती है और मेरे सुख का पूरा पूरा ध्यान रखती है। परन्तु ब्याहे हुए मनुष्य के लिए जो वस्तु अमृत के समान है उससे हम दोनों वञ्चित हैं। उसे मुझसे ज़रा भी प्रेम नहीं। उसने कभी मुझसे कोई वस्तु नहीं माँगी। जो कुछ दे देता हूँ, ले लेती है। जो कुछ ख़रीद लाता हूँ उस पर ख़ुश हो जाती है। मैं चाहता हूँ, हाँ मेरे प्यारे मित्र! मैं तुम्हें क्या बताऊँ, कितना चाहता हूँ कि वह मुझसे कुछ माँगे, मुझसे लड़े झगड़े, मुझे तङ्ग करे—वह नहीं करती। मैं इन बातों के लिए तरसता हूँ। परमेश्वर ने मुझे सब कुछ दिया है, परन्तु मैं फिर भी अभागा हूँ—मुझे कुछ भी प्राप्त नहीं। मैं वह मछली हूँ, जिसके ऊपर-नीचे आगे-पीछे पानी हो, परन्तु उसे एक बूँद पीने की भी आज्ञा न हो। हा! कैसा भयानक दुर्भाग्य है। एक दिन मैंने उसे प्यार से पकड़ लिया और कहा,

"देवकी ! तुम्हें क्या दुख है ? मुझसे कह; मैं उसे जिस तरह भी होगा दूर करने का यत्न करूँगा।"

देवकी ने अपनी सुन्दर आँखों से मेरी ओर देखा और कुछ देर तक चुप रही। इसके पश्चात् सहम गई, मानो कबूतरी बिल्ली के मुँह में फँस गई हो। उसकी आँखों में आँसू आ गये और उसने सहसा अपने आप को मेरे हाथ से छुड़ा लिया। मुझ पर घड़ों पानी पड़ गया। देवकी ने धीरे से उत्तर दिया—"मुझे कोई दुख नहीं।" परन्तु उसका इस तरह बोलना कह रहा था कि यह झूठ है। मुझे विचार आया, क्या मुझ सा अभागा पुरुष भी ससार में होगा, जिसकी स्त्री भी उसके सामने अपना दिल नहीं खोलती। प्यारे मित्र ! यह कैसा दुख है, यह कैसी विपत्ति है, यह कैसा नरक-कुण्ड है ? अच्छा होता, यदि मैं यह व्याह न करता। परन्तु अब क्या हो सकता है ?

मेरे लिए परमेश्वर से प्रार्थना करो कि मेरे जीवन की अँधेरी रात्रि में भी उजाला हो। तुम्हारा अभागा मित्र

साँझीराम

(१०)

माधोबाग़, बम्बई

४ दिसम्बर, १९१६

भाई डीयर वज़ीरचन्द,

लगातार चार मास से घूम रहा हूँ। हरद्वार, हृषिकेश,

मथुरा वृन्दावन, बनारस, जगन्नाथ सब स्थानों में हो आया हूँ, परन्तु हृदय को शान्ति नहीं मिली। चित्त वैसे का वैसा ही व्याकुल है। आँखें प्रत्येक समय आँसुओं से भरी रहती हैं। मेरे लेकचरों की भारतवर्ष में धूम मच गई है। जहाँ जाता हूँ, पबलिक राह में आँखें बिछा देती है। समाचार-पत्र मेरी प्रशंसा से भरे रहते हैं। अभी एक सप्ताह के लगभग हुआ, लाहौर के दैनिक पत्र ट्रीब्यून ने मेरे सम्बन्ध में एक लीडिङ्ग आर्टिकल लिखा है। उसे पढ़ कर तुम आनन्द से उछल पड़ोगे। परन्तु मुझे यह बातें भी प्रसन्न नहीं कर सकतीं, जैसे बुझे हुए दीपक को तेल प्रदीप्त नहीं कर सकता।

२७ नवम्बर को मैं बटाले गया। हृदय में एक लालसा घुटकियाँ ले रही थी, कदाचित् कहीं उसे देख सकूँ। वज़ीर-चन्द, मुझे क्षमा न दो। मुझे अभी तक उसका ध्यान है। उसका ब्याह हो चुका है। वह पराई सम्पत्ति बन चुकी है। सोसायटी और उसके नियमों की दृष्टि में मेरा उससे कोई सम्बन्ध नहीं, परन्तु प्रेम के नाते से वह अब भी मेरी है। मैंने सोचा, यदि उसे दूर से देख सकूँ तो क्या हानि है। मैं बटाले पहुँचा। स्टेशन पर मनुष्यों की भीड़ थी। लोग मुझ पर इस तरह टूटते थे, जैसे बच्चे मिठाई पर। मैंने प्रोफ़ेसर राममूर्ति के जुलूस देखे हैं। मैंने पण्डित मालवीय के प्रोसेशन देखे हैं, परन्तु जो धूम-धाम मेरे स्वागत में थी, वैसी मैंने कभी नहीं देखी। प्लेटफ़ार्म पर

सिर ही सिर दिखाई देते थे। गाड़ी के स्टेशन पर पहुँचते ही लोगों ने ज़ोर से जय जयकार किया, "स्वामी सन्तोषानन्द की जय।" मेरा हृदय एक क्षण के लिए प्रसन्न हो गया। परन्तु एकाएक देवकी के विचार ने मुझे शोकातुर कर दिया। एक क्षण पहले की प्रसन्नता कहाँ गई, यह पता न लगा। जिस प्रकार चन्द्रमा पर घटा आ जाने पर उसकी किरणें दिखाई देना बन्द हो जाती हैं।

गाड़ी खड़ी हुई। मैंने कमण्डलु और कम्बल सँभाला और नीचे उतरा। हिन्दू-सभा के प्रतिष्ठित सज्जनों ने मेरे पाँवों पर सिर रख दिया। मैंने सबको आशीर्वाद दिया और बाहर निकला। जो लोग प्लेटफ़ार्म पर नहीं जा सकते थे वे बाहर खड़े थे। मुझे देखते ही उन्होंने जय जयकार किया, "स्वामी सन्तोषानन्द की जय।"

एकाएक मेरी दृष्टि रायसाहब साँभीराम पर पड़ी। मैं सन्नाटे में आ गया। वे बड़ी श्रद्धा से आगे बढ़े और मेरे पैरों से लिपट गये। कृतज्ञता के भाव ने श्रद्धा का रूप धारण कर लिया था। वज़ीरचन्द! मैं साधु हूँ। मेरे हृदय और वाणी में अन्तर नहीं होना चाहिए। उस समय मेरा रक्त गरम तेल की नाईं खौल रहा था। मेरा हृदय उससे घृणा करता था। कभी मैंने उसके भाई को मृत्यु के मुख से खींच कर निकाला था। परन्तु अब अवसर मिलता तो स्वयं रायसाहब को गोली मार देता। फिर भी मैंने

मुस्करा कर कहा, "अहा ! रायसाहब हैं, कहिए कुशल तो है ?"

रायसाहब ने सिर झुका कर उत्तर दिया, "आपकी दया-दृष्टि से। परन्तु मेरी एक प्रार्थना है।"

मैंने कुछ विस्मित सा होकर पूछा, "कहिए ! क्या आज्ञा है ?"

इस समय मेरे हृदय में विचारों की भरमार हो रही थी। सोचता था, क्या रायसाहब मुझे अपने यहाँ ठहरने के लिए न कहेंगे। परन्तु साथही यह भी विचार आता था कि मैं हिन्दू-सभा का अतिथि हूँ। पता नहीं, उन्होंने क्या प्रबन्ध किया है ? निराशा आशा के साथ साथ खड़ी थी।

रायसाहब ने नम्रता से कहा—"आप मेरे यहाँ ठहरिएगा ?"

आशा विश्वास बन गई, मेरा हृदय आनन्द में हिलोरे लेने लगा। मैंने मुस्करा कर उत्तर दिया—"साधु जहाँ ठहरेगा, कुछ कष्ट ही देगा।"

"मुझे इस कष्ट की बड़ी अभिलाषा है। आप स्वीकार करें।"

"बहुत अच्छा।"

मैं मोटर पर सवार हुआ। लड़के भजन गा रहे थे। आगे बैंड बाजा बज रहा था। लोग मुझ पर फूल-वर्षा कर रहे थे। मेरा प्रोसेशन निकला। बाज़ारों में पुरुष थे, छतों पर

स्त्रियाँ। ऐसा प्रतीत होता था, मानो मैं कोई महाराज हूँ, और लोग मेरी प्रजा हैं। कोई और समय होता तो मैं हर्ष से फूला न समाता। परन्तु इस समय मुझे रत्ती भर भी सुख न था। प्रेम की असफलता का विचार मुझे उदास कर रहा था। मोटर के साथ यह जुलूस मेरे लिए मृतक की अर्थी था। मेरा हृदय लोहू के आंसू बहा रहा था। जुलूस समाप्त हुआ और मोटर रायसाहब की कोठी पर रुका। मेरे प्राण होंठों तक आ गये, जिस प्रकार थर्ड-क्लास के यात्री अधिक मनुष्य होने से घबरा जाते हैं। मेरी आंखें किसी की खोज करने लगीं, परन्तु वह न दिखाई दी। मुझे एक सजे हुए कमरे में ठहराया गया।

तीसरे पहर का समय था। मैं बैठा हुआ गीता का पाठ कर रहा था। इतने में किसी के पाँव की चाप सुनाई दी। मेरे मन में हलचल मच गई। मैं सोचने लगा—क्या यह वही है, जिसकी माधुरी छवि देखने के लिए कई मास से तड़प रहा था। क्या मेरी कामना पूरी होने का समय आ गया। चिक उठी, मेरा कलेजा धड़कने लगा। एकाएक शीतकाल के दिन में मस्तक पर पसीना आगया।

यह देवकी थी। उसने मुझे देखा तो ठिठक गई, जैसे रात में चोर देख लिया हो। उसके मुख पर हैरानी दौड़ गई, कान तक लाल हो गये। वह साधु के विचार से आई थी, परन्तु उसे मैं दिखाई दिया। वह बिजली के समान वापस

मुड़ी। श्रद्धा घृणा में बदल गई थी। एकाएक मैंने कहा, "देवकी!"

मेरे स्वर में प्रेम और विनय के अंश मिले हुए थे, वे देवकी के पाँवों की जंज़ीर बन गये। वह जाते जाते रुक गई और सिर झुका कर खड़ी होगई। उसकी जिह्वा बन्द थी, परन्तु शरीर काँप रहा था, जैसे ज्वर का वेग हो। मैं उसके मुँह की ओर देख रहा था और अपने अतीत काल को स्मरण कर रहा था।

कुछ समय तक देवकी इसी तरह खड़ी रही, परन्तु एकाएक चौंक पड़ी, मानो मिट्टी की मूर्ति में प्राण आ गये हों। मैंने कहा, "देवकी! मैंने साधु का वेश पहन लिया है, परन्तु मेरा मन अभी तक वैसा ही है। मैं तुमसे एक शिकायत करना चाहता हूँ। क्या तुम्हारे पास सुनने के लिए अवसर है?"

देवकी के मुखमण्डल पर अस्त होते हुए सूर्य्य की लाली छा गई। ऐसा प्रतीत होता था, जैसे उसके हृदय में क्रोध की अग्नि धधक रही है। मुँह की लाली इस अग्नि के चिनगारे थे। उसने धीरे से कहा, "कहो क्या कहते हो?"

"मेरा मौन मेरी शिकायत है, तुम उत्तर दो।"

देवकी अब और सहन न कर सकी। उसने कड़क कर उत्तर दिया, "काहे का उत्तर दूँ?"

"अपनी इस कुचेष्टा का।" मेरा सङ्केत उसके ब्याह की ओर था।

"तुम अपने आपको इस प्रश्न का अधिकारी समझते हो?"

"हाँ, पूर्ण रूप से।"

देवकी ने अपनी जेब से एक पुरानी चिट्ठी निकाल कर मेरे सामने रख दी और कहा, "इसे देख कर भी?"

मैंने आश्चर्य से चिट्ठी पढ़ी। मेरे अचम्भे का ठिकाना न था। वज़ीरचन्द, यह चिट्ठी बन्नू के किसी टेकचन्द की ओर से गुजरात के किसी जमनादास के नाम थी। मैं इन दोनों को नहीं जानता। परन्तु चिट्ठी मेरे ही विषय में थी। इसमें लिखा था कि गुजरात का एक नवयुवक अमीरचन्द यहाँ आया हुआ है। उसे हमने (टेकचन्द से अभिप्राय है) अपनी लड़की से ब्याह के लिए पसन्द किया है। अमीरचन्द ने पहले-पहल तो न माना, परन्तु अब रुपया के लोभ से मान गया है। यह चिट्ठी पढ़ कर मेरे प्राण निकल गये। मुँह पर पीलापन छागया। देवकी ने मेरी ओर देखते हुए पूछा, "अब भी क्या अपना वही प्रश्न दोहराते हो?"

मैंने अपने गिरते हुए धीरज को सँभाल कर उत्तर दिया "हाँ, मैं अब भी अपने आपको वही प्रश्न दोहराने का अधिकारी समझता हूँ।"

देवकी ने आश्चर्य से कहा, "और यह चिट्ठी?"

"मालूम होता है, तुम्हारे पिता का धोखा है।"

देवकी खड़ी हो गई। इस समय उसका, अङ्ग अङ्ग काँप रहा था। उसने पूछा, "तो तुम्हारा ब्याह नहीं हुआ?"

"नहीं।"

"और अब साधु क्यों हुए हो?"

"और क्या करता?"

देवकी खड़ी थी, यह सुन कर बैठ गई, और दोनों हाथों से मुँह छिपा कर रोने लगी। अब मुझे और उसको वास्तविक भेद का पता लगा। दोनों के दुःख और शोक की थाह न थी।

रात को मेरा लैक्चर हुआ। मैंने कलेजा निकाल कर लोगों के सामने रख दिया और ब्याह की बुराइयों पर अपने विचार प्रकट किये। मैं सात मास से लैक्चर दे रहा हूँ। परन्तु उस रात के लैक्चर में जादू था। जनता की आँखों में आँसू भरे हुए थे और स्त्रियाँ तो बिलख बिलख कर रो रही थीं। परन्तु लैक्चर का अधिकतर प्रभाव रायसाहब और देवकी पर हुआ। दोनों के मुख का रङ्ग उड़ा हुआ था। दूसरे दिन पता लगा कि देवकी ने साड़ी पर तेल छिड़क कर कपड़ों में आग लगा ली है। मुझ पर पहाड़ टूट पड़ा। जी चाहता था कि उसके साथ ही जल मरूँ। परन्तु, फिर यह विचार रोकता था कि इससे देवकी को कलङ्क लगेगा। लोग तरह तरह

की बातें करेंगे। उसने ब्याह करके भी प्रेम की आन को निभाया; क्या मैं उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी धूल उड़ाऊँगा।

वज़ीरचन्द, अब मेरा संसार उजड़ गया है। पहले सोचता था कि देवकी मेरी नहीं; न सही, जीती तो है। पर अब यह बात भी नहीं रही। अब जी कर क्या करूँगा। यह मेरा अन्तिम पत्र है। कल के समाचार-पत्र में मेरी मृत्यु का समाचार पढ़ो तो आश्चर्य्य न करना। देवकी मेरी बाट देख रही होगी, मैं उसे अधिक व्याकुल नहीं करना चाहता।

तुम्हारा कोई घड़ी का पाहुना

अमीरचन्द

(११)

माधोबाग़, बम्बई

५ दिसम्बर, १९१६

माई डीयर लाला हरनामदास,

मैं आजही यहाँ पहुँचा हूँ, और आते ही यह समाचार सुना है कि स्वामी सन्तोषानन्द भी मर गये हैं। उन्होंने विष खा लिया है। जब से मैंने उनकी और देवकी की बात-चीत छिप कर सुनी थी तभी से मुझे आश्चर्य्य हो रहा था कि अब क्या होगा। यह मृत्यु इस नाटक का ड्राप है।

देवकी की आश्चर्य्यजनक उदासीनता और मौन का

रहस्य अब जान पड़ा है। और मेरी दृष्टि में उसका सम्मान कई गुना अधिक हो गया है। वह अमीरचंद से प्रेम करती थी। उसका हृदय उसे चाहता था। परन्तु ऐसा होने पर भी उसने मेरा मन रखने का पूरा प्रयत्न किया और अपने प्रेम को अन्दर ही अन्दर दबा रक्खा। परन्तु जब उसे अपने पिता की धोखेबाज़ी का पता लगा तब उसने आत्महत्या कर ली। इसके अतिरिक्त और उपाय ही क्या था ?

सन्तराम ने बड़ी भूल की ! उसे सोचना चाहिए था कि वह क्या कर रहा है। उसे ख़याल करना चाहिए था कि संसार में रुपया ही सब कुछ नहीं। उसका लोभ दो हत्याओं का कारण बना और हमारी जाति इन दो बहुमूल्य रत्नों से वञ्चित हो गई।

तुम्हारा अभागा मित्र
साँझीराम

— ——

पारिवारिक शिक्षा

(१)

लाला चमनलाल का ख़र्च आय से अधिक था, इसलिए प्रायः उदास रहा करते थे। उनकी स्त्री की हथेली में छेद था, पानी की भाँति ख़र्च करती थी। लाला चमनलाल बहुत मितव्ययी थे। उनका अपना ख़र्च बीस रुपये से अधिक न होता था। परन्तु उनकी स्त्री बड़े घर की बेटी थी, मख़मली सलोपर पहनती, रेशमी साड़ी, रुपये का घी दूसरे दिन ख़र्च कर देती थी। दो तीन भाजियों के बिना रोटी का ग्रास उसके कण्ठ से नीचे न उतरता था। और रोटी खाकर जब तक फल न खा लेती तब तक भोजन हज़म न होता था। यही नहीं, दस-पन्द्रह रुपये मासिक लैस-फीतों में उड़ जाते थे। दोपहर के समय अड़ोस पड़ोस की स्त्रियाँ उसके पास आ बैठतीं तो उनके लिए मिठाई मँगवाई जाती। लाला चमनलाल यह देखते तो बहुत कुढ़ते। प्रायः स्त्री को समझाया करते, "देखो यह चाल अच्छी नहीं। रुपया-पैसा लहू-पसीना एक करके मिलता है, सोच-समझ कर ख़र्च करो। कन्यायें हैं, वे नीम के पेड़ की भाँति बढ़ रही हैं। उनके ब्याह के लिए अभी से बचाना आरम्भ करोगी तो समय पर पूरा पड़ेगा, नहीं तो भाई-चारे

में नाक कट जायगी। इस तरह धन को उड़ाना धनाढ्य लोगों को शोभा देता है। इससे उनकी मान-प्रतिष्ठा को चार चान्द लग जाते हैं। परन्तु निर्धनों के लिए इस प्रकार व्यर्थ ख़र्च करना हलाहल विष के समान है। उनकी भलाई इसी में है कि फूँक फूँक कर पाँव धरें। सहेलियों से मिलो बतेो, उजले वस्त्र पहनो, मनाही नहीं, परन्तु रुपये को रुपया समझ कर ख़र्च करो। दिखावे के लिए सारी आयु का सुख गिरवी न रख दो।''

रामप्यारी वह बातें सुनती तो सिर झुका लेती और सच्चे हृदय से प्रतिज्ञा करती कि भविष्य में कभी ऐसा न करूँगी। परन्तु उसकी यह टेव प्रकृति का एक अङ्ग बन चुकी थी, मास के अन्त में फिर यही कठिनाई आ पड़ती। रुपया-पैसा फिर समाप्त हो जाता, आवश्यक सामग्री फिर उधार मँगवाई जाती, लाला चमनलाल फिर कुढ़ते, रामप्यारी फिर प्रतिज्ञा करती, परन्तु यह प्रतिज्ञा कभी पूरी न हुई। यहाँ तक कि मितव्ययिता के विचार से लाला चमनलाल ने लाहौर छोड़ कर पास के ग्राम इच्छेर में रहना आरम्भ किया। इससे मकान के किराये में तो सोलह रुपये मासिक की बचत हो गई, परन्तु लाला चमनलाल पर मुसीबत टूट पड़ी। अब इन्हें पाँच मील रोज़ पाँव प्यादा चलना पड़ता था। सुहृद् मित्र कहते—"कैसे सूम हो, एक साईकल क्यों नहीं ख़रीद लेते, रोज़ रोज़ के झञ्झट से छूट जाओगे"। ये शब्द लाला चमनलाल के

हृदय में भाले की तरह चुभ जाते, परन्तु दूध का घूँट करके पी जाते। विवशता जीभ को पकड़ लेती थी।

(२)

साँझ का समय था, रामप्यारी कन्या के गौन में सिल्मा-सितारा लगा रही थी कि चमनलाल ने दफ़्तर से आकर एक गुलाबी लिफ़ाफ़ा उसके आगे रख दिया। रामप्यारी ने चौंक कर पूछा, "क्या है ?"

"मिसेज़ रामरखामल ने तुम्हें आमन्त्रण दिया है।"

"कब ?"

"दशहरे के दिन।"

रामप्यारी को भोज-निमन्त्रणों का बहुत चाव था। वह ऐसे अवसर पर हर्ष से उछल पड़ती थी। परन्तु इस समय उसके मुख पर उदासी छा गई जैसे किसी की बीमारी की ख़बर सुन ली हो। उसने उठ कर लिफ़ाफ़े को लौटा दिया और कहा, "मैं न जाऊँगी।"

रामप्यारी भोज में सम्मिलित होना अस्वीकार कर देगी इस बात का उन्हें ख़याल तक न था और विशेषतः, मिसेज़ रामरखामल के साथ तो उसका चिरकाल का सम्बन्ध था। उन्होंने घबरा कर पूछा, "क्यों कुशल तो है ?"

रामप्यारी ने सिर झुका कर उत्तर दिया—"वहाँ जितनी स्त्रियाँ आती हैं सबकी सब सज-सजाकर आती हैं। मैं उनमें जाकर नक्कू न बनूँगी।"

"क्यों ? तुम्हारे पास फिरोज़ी रङ्ग की जो साड़ी है, वह तुम्हें बहुत ही भली लगती है।"

"एक साड़ी है, उसे ही बार बार पहन कर अब जी भी उकता गया है। सब कहेंगी कि इसके पास ले दे के यही एक साड़ी है, दिन-रात उसे ही पहने फिरती है। कई स्त्रियाँ नाक-भौंक भी कर देती हैं। उस समय मन की जो अवस्था होती है उसे मन ही जानता है।"

"तो फिर क्या विचार है ?"

"अच्छा तो यह है कि ना कर दीजिए, मैं न जाऊँगी।"

"नई साड़ी ही न ला दूँ ?"

"व्यर्थ ख़र्च करने में क्या धरा है। दूसरों के मुख का वाह वाह सुनने के लिए अपना घर लुटा देना कहाँ की बुद्धिमत्ता है।"

सम्भव है, यदि रामप्यारी हठ करती तो इन्हीं शब्दों में चमनलाल उसे उपदेश सुनाने लगते, परन्तु उसके अपने मुख से यह शब्द सुन कर उनको तीर सा लगा। अपनी निर्धनता पर क्रोध आया, प्रारब्ध को सैकड़ों गालियाँ दे डालीं और दुखित होकर इधर-उधर टहलने लगे। कुछ देर के पश्चात् बोले, "प्रिये ! तुम्हारा वहाँ जाना अत्यावश्यक है।"

रामप्यारी ने सुई में तागा डालते डालते कहा, "मुझसे अपमान न सहा जायगा।"

"मैं कल नई साड़ी लेता आऊँगा।"

"कितने की आयेगी ?"

"पच्चीस रुपये तक काम बन जायगा।"

रामप्यारी ने ठण्डी साँस भर कर कहा—"मेरे पास तो सवा आठ आने के सिवा एक पैसा भी नहीं।"

चमनलाल ने स्त्री के पास चारपाई पर बैठ कर उसकी कमर में हाथ डाला और हँस कर कहा, "कोई परवा नहीं। मेरा बटुआ भरा हुआ है।"

"झूठ।"

"नहीं सच।"

"दिखाओ तो.....।"

यह कहते हुए रामप्यारी ने पति की जेब से बटुआ खींच लिया और उसे खोल कर देखा तो आश्चर्य्य से उछल पड़ी। उसमें दो गिन्नियाँ थीं। जिस प्रकार अबोध बालक नये खिलौने को देख कर प्रसन्न हो जाता है, उसी प्रकार गिन्नियों को देख कर रामप्यारी को हर्ष हुआ। मुख पर प्रसन्नता लहराने लगी। हँस कर बोली, "ये कहाँ मिलीं ?"

चमनलाल कुछ देर चुप रहे। जब वे दफ़्तर को जाने लगते थे, तो रामप्यारी उनकी जेब में दोपहर को कुछ खाने-पीने के लिए चार आने पैसे डाल दिया करती थी। वे उन्हें बचा बचा कर रखते रहे। ये दो गिन्नियाँ उनकी चार मास की मितव्ययिता का फल थीं। उन्होंने मन ही मन सोचा, वास्तविक बात बतानी चाहिए या नहीं। अन्ततः यही निश्चय

किया कि झूठ न बोलना चाहिए। रामप्यारी ने फिर पूछा, "ये कहाँ मिलीं? अभी महीना चढ़ने में तो एक सप्ताह बाक़ी है।"

चमनलाल ने कहा, "तुम मुझे खाने-पीने के लिए प्रति दिन क्या दिया करती हो?"

"चार आने।"

"ये चार मास की वही चवन्नियाँ हैं।"

रामप्यारी को ऐसा प्रतीत हुआ मानो उसे किसी ने सहस्रों मीलों की ऊँचाई से धक्का दे दिया हो। अपनी अमितव्ययिता उसकी दृष्टि में आज तक साधारण बात थी। परन्तु पति की मितव्ययिता के सामने उसको अपने अनर्थ के रूप का अनुभव हुआ। सोचने लगी, ये कमाते हैं, परन्तु पैसा पैसा सँभाल कर रखते हैं। मैं घर में बैठी राज करती हूँ, परन्तु रुपयों को ऐसा समझती हूँ, मानो मिट्टी के ढेले हों। वह रोती हुई पति के चरणों से लिपट गई और बोली, "तुमने मेरी आँखें खोल दी हैं। अब मैं एक पैसा भी व्यर्थ न ख़र्च करूँगी। ये गिन्नियाँ सँभाल कर रक्खो, मुझे नई साड़ी की आवश्यकता नहीं।"

परन्तु चमनलाल ने कहा, "इतना व्यर्थ ख़र्च तुम करती रही हो, एक बार मुझे भी कर लेने दो।"

(३)

दूसरे दिन दफ़्तर बन्द हुआ तो चमनलाल सीधे बज़ाज़

की दुकान पर पहुँचे और बोले, "कोई अच्छी सी साड़ी दिखाओ।"

"क्या रङ्ग है ?"

"नसवारी, जोगिया, कबूतरी।"

बज़ाज़ ने साड़ियों का ढेर लगा दिया। चमनलाल घबरा गये कि कौन सी पसन्द करूँ। बहुत समय तक उलट पलट कर देखते रहे। कभी एक को पसन्द करते, कभी दूसरी को। सोचते, कैसी भूल की, उसे साथ लाते तो यह कष्ट न होता, अपनी मनमानी वस्तु ले जाती। स्त्रियों और पुरुषों की रुचि में भूमि-आकाश का अन्तर है। अन्त में एक साड़ी आँखों में जँची। उसे हाथ में लेकर बोले, "इसका मोल बताइए।"

बज़ाज़ ने साड़ी को हाथ में लेकर उसे जाँचा और उत्तर दिया, "बाज़ार में यह साड़ी तीस रुपये में बिक रही है, पर आपसे पच्चीस ही ले लूँगा।"

चमनलाल को यदि मूल्य तीस रुपये बताया जाता तो वह कहता, पच्चीस लीजिए, परन्तु बज़ाज़ के अपने मुख से वही मूल्य सुन कर उन्होंने उत्तर दिया, "पच्चीस अधिक हैं।"

"आपकी दूकान है, उठा कर ले जाइए। यदि कोई दूसरा दूकानदार पौने पच्चीस में दे जाय, तो मैं आपसे एक कौड़ी भी न लूँगा।"

चमनलाल पर यह मन्त्र चल गया, रुपये फेंक कर बोले, "यदि पसन्द न आई तो वापस कर दी जायगी।"

"बड़ी ख़ुशी से। घर की बात है।"

चमनलाल साड़ी लेकर चले, तो हृदय आनन्द के मद से मतवाला हो रहा था और पाँव पृथ्वी पर न पड़ते थे। परन्तु बाज़ार से बाहर निकले तो हृदय बैठ गया, घड़ी ने सात बजा दिये। उड़ते हुए गाड़ियों के अड्डे पर पहुँचे कि कोई टमटम मिल जाय तो उसी पर बैठ जायँ। परन्तु वहाँ सन्नाटा छाया हुआ था। चमनलाल का कलेजा धड़कने लगा। आनन्द में मनुष्य की सबसे बड़ी इच्छा यह होती है कि पर लग जायँ तो उड़ कर घर पहुँच जाऊँ। चमनलाल को टमटम भी न मिली। निराश होकर जमादार से बोले, "इच्छरं की कोई टमटम मिल जायगी?"

"ज़रा ठहरिए, मिल जायगी।"

सूखे धान में पानी पड़ गया, चमनलाल का बोझ उतरा। लालटैन के पास जाकर चाव के साथ साड़ी को देख कर मन ही मन प्रसन्न होने लगे। अचानक कान में आवाज़ आई, "कोई इच्छरं की सवारी?"

चमनलाल ने चौंक कर आँख उठाई और टमटम की ओर बढ़े। परन्तु वहाँ तक पहुँचने न पाये थे कि चार आदमी टमटम पर सवार हो गये। चमनलाल के पाँव भूमि में गड़ गये। परन्तु फिर ख़याल आया, रात का समय है, देखता कौन है? उचक कर सवार हो गये और बोले, "ज़रा जल्दी चलो।"

कोचवान ने उत्तर दिया, "बाबू साहब ! अब तो सवारियाँ पूरी हो चुकी हैं।"

"कोई बात नहीं, रात का समय है।"

"जो किसी ने पकड़ लिया तो आप छुड़ा लेंगे ?"

चमनलाल ने बेपरवा होकर उत्तर दिया, "छुड़ा लूँगा।"

टमटमवाले ने यह समझा कि यह कोई उच्च अधिकारी है, इसे अपने ऊपर भरोसा है। उधर चमनलाल का विचार था कि इस समय कोई नहीं रोकेगा। परन्तु चौक में पहुँचते ही सिपाही ने डाँट कर कहा, "ठहर जाओ।"

टमटमवाले का हृदय सहम गया। उसने चमनलाल से कहा, "बाबू साहब।"

चमनलाल ने देखा कि विपत्ति सिर पर आ गई, कोरे से होकर बोले, "थोड़ी मिन्नत-खुशामद कर दो, तुम्हें फाँसी थोड़ा ही दे देगा।"

टमटमवाले की आँखें खुल गईं। उसे यह आशा नहीं थी कि चमनलाल इस प्रकार आँखे बदल लेंगे। वह काँपता हुआ टमटम से उतरा और पोलीमैन के सामने हाथ जोड़ कर बोला, "सरकार ! माफ़ करें, फिर कभी ऐसी भूल न होगी।"

परन्तु पोलीमैन ने न आँसुओं को देखा और न मिन्नत को सुना। उसने लपक कर उसके सिर से नम्बर उतार लिया, और कहा, "कल कचहरी आना।"

कोचवान रोता हुआ टमटम पर चढ़ा और घोड़े को

चाबुक लगा कर बोला, "बाबू साहब ! आपने यह अन्धेर किया है।"

परन्तु चमनलाल चुप साधे रहे। यह चुप्पी बेचारे कोचवान के हृदय के घाव पर नमक छिड़क गई। सहानुभूति के दो शब्द उस पर मरहम का काम दे जाते। इच्छर पहुँचे तो वह मन में चमनलाल को सहस्रों गालियाँ दे रहा था, परन्तु चमनलाल घरवाली को साड़ी दिखाने के चाव में मस्त थे। उनको बेचारे कोचवान की परवा न थी।

(४)

दूसरे दिन कोचवान का मुक़दमा मैजिस्ट्रेट के सामने पेश हुआ। मैजिस्ट्रेट की प्रकृति बड़ी कठोर थी, क्रोध से बोला, "तुम पाँच सवारी क्यों बैठाया।"

कोचवान ने हाथ बाँध कर और आँखों में आँसू भर कर उत्तर दिया, "सरकार ! अब माफ़ कर दें, फिर कभी गलती न होगी, गरीब आदमी हूँ।"

"लेकिन क़ानून के माफ़िक क्यों नहीं चला। अब रोने माँगटा।"

"हुज़ूर माई-बाप हैं। यह पहली भूल है, माफ़ कर दें। सारी उमर दुआ देता रहूँगा।"

"हूँ।"

"सरकार सच कहता हूँ, फिर ऐसी खता न होगी। अब के माफ़ कर दें। गरीब आदमी हूँ, जुर्माना न दे सकूँगा।"

मैजिस्ट्रेट ने कुछ देर विचार किया और पच्चीस रुपये जुर्माना कर दिया। कोचवान के पास रुपये न थे, इसलिए हवालात में डाल दिया गया।

घर में उसकी स्त्री ने यह सुना तो पछाड़ खाकर गिर पड़ी। कुछ काल पश्चात् सुध आई तो लाला संसारचन्द के पास पहुँची और सहायता के लिए प्रार्थना की। उसका पति उसी की टमटम ठेके पर चलाया करता था। परन्तु उसने किसी प्रकार की सहायता न की। तब वह निराश होकर वापस लौटी। यदि चमनलाल के यहाँ चली जाती तो वह उसका जुर्माना भर देता, परन्तु उसे विश्वास न आता था कि इसमें सफलता होगी। इस पर उसने चमनलाल को सहस्रों गालियाँ दे डालीं। स्त्री क्रोध में हो, तो बफरी हुई शेरनी बन जाती है। यदि उस समय चमनलाल उसके हाथ आ जाते तो वह उनका पेट चीर देती, परन्तु विवश थी। विवश मनुष्य का मुँह बहुत चलता है। उसने भी गालियाँ देकर क्रोध उतारा और बच्चों को गोद में लेकर रोने लगी।

इधर कोचवान हवालात में बन्द था, उधर चमनलाल ज्वर में बेहोश पड़े थे। रामप्यारी के नेत्रों से अश्रु बह रहे थे। वह औषधि पर औषधि दे रही थी, परन्तु रोग में न्यूनता न होती थी। दो दिन बीत गये, शरीर तन्दूर के समान तप रहा था, रोग घटने का कोई चिह्न नहीं दिखाई देता था। रामप्यारी मिन्नतें मान रही थीं, हनूमान् के नाम लड्डू देने का

प्रण कर रही थी और बार बार हाथ लगा कर देखती थी, परन्तु ज्वर कम न होता था।

तीसरे पहर का समय था। रामप्यारी चमनलाल के सिरहाने बैठी उसके मुँह की तरफ़ ताक रही थी कि उन्होंने नेत्र खोल दिये और कहा, "प्रिये!"

रामप्यारी का मुँह चमकने लगा, रोम रोम में आनन्द की लहर दौड़ गई। नीचे झुक कर बोली, "क्यों? क्या हाल है?"

"करमदीन बोदीवाला कोचवान है। उसे पच्चीस रुपये जुर्माना हुआ है। वह मुझे होना चाहिए।"

"आपको क्यों?"

"मैं ज़बरदस्ती उसकी टमटम पर चढ़ा था। यह मेरा दोष है, उसका नहीं।"

"फिर।"

"उसे रुपये दे दो।"

रामप्यारी ने ठण्डी साँस भर कर उत्तर दिया, 'रुपये कहाँ हैं?"

चमनलाल सुध में न थे, बोले, "बटुए में दो गिन्नियाँ हैं।"

रामप्यारी के हृदय में बाण सा लगा। वह करमदीन के क़ैद होने की घटना सुन चुकी थी। परन्तु इस घटना का उसके पति से सम्बन्ध है, इसका उसे ज्ञान न था। पति के मुख से अपराध-स्वीकृति सुन कर उसे विश्वास हो गया कि

चमनलाल की ठण्डी आहों ने बुख़ार चढ़ा दिया है, औषधि से न उतरेगा। इसके लिए हार्दिक आशीर्वाद की आवश्यकता है। वह घबराई हुई उठी और पड़ोसिन के पास जाकर बोली, "बहन तेरे पास पच्चीस रुपये हैं? मैं पहली को लौटा दूँगी।"

पड़ोसिन के पास रुपयों का घाटा न था, परन्तु उसने देना उचित न समझा, मुँह बना कर बोली, "नहीं, मेरे पास नहीं। होते, तो तुमसे क्या फ़र्क़ है।"

रामप्यारी के हृदय को इस उत्तर से बड़ा आघात पहुँचा। यही पड़ोसिन थी, जिसे उसने कई रुपये की मिठाई खिला दी थी। परन्तु समय पर वह इस प्रकार आँखें चुरा लेगी, इसकी आशा न थी। उसके कोरे उत्तर ने रामप्यारी की आँखें खोल दीं। पिछले निरर्थक ख़र्च उसके सामने मूर्तिमान् हो गये। सोचा, यदि बचा कर रखती, समझ-सोच कर ख़र्च करती तो पच्चीस रुपयों के लिए हाथ न पसारना पड़ता। इस पड़ोसिन का घरवाला, जिसके रुपये सूद पर चढ़े रहते हैं, पचास रुपया मासिक कमाता है। मेरे यहाँ। सौ रुपये से अधिक की आय है, परन्तु हाथ में पैसा नहीं। उन्होंने सैकड़ों बार समझाया, और सोच-विचार कर ख़र्च करने का उपदेश किया, रामप्यारी के मन में यह बात न बैठी थी। परन्तु इस क्षुद्र सी घटना ने उसके मन में हलचल मचा दी। जो काम घड़ों जल से नहीं हो सकता, उसे क्वाथ के दो घूँट कर देते हैं।

(५)

रामप्यारी रोती हुई उठी और अपनी नई साड़ी लेकर ताँगे में बैठ गई और शहर को चली। बज़ाज़ के पास जाकर बोली, 'यह साड़ी ले लो, मुझे पसन्द नहीं।"

बज़ाज़ को उनका बहुत लिहाज़ था। उसने कहा, "कोई और दिखाऊँ ?"

रामप्यारी साड़ी को नापसन्द होने के कारण नहीं प्रत्युत आवश्यकता के कारण लौटा रही थी, परन्तु इस बात को बज़ाज़ भाँप गया तो कदाचित् न लौटायें, इस विचार से उसने उत्तर दिया, "दिखाओ।"

बज़ाज़ ने कई साड़ियाँ दिखाईं, परन्तु रामप्यारी ने सबमें कोई न कोई दोष निकाल दिया। बज़ाज़ ने हार कर रुपये लौटा दिये। उन रुपयों को हाथ में लेते समय रामप्यारी को ऐसा मालूम हुआ, मानो पति का स्वास्थ्य ख़रीद रही है। यह साड़ी ख़रीदते समय वह प्रसन्न हुई थी, वापस करते समय उससे भी अधिक प्रसन्न हुई।

सायङ्काल हो गया था। रामप्यारी इच्छरे पहुँची और उड़ती हुई करमदीन कोचवान के घर गई। किवाड़ बन्द थे। रामप्यारी अपराधिन की भाँति सिर झुका कर खड़ी हो गई और सोचने लगी, "किवाड़ क्योंकर खुलवाऊँ।" इतने में अन्दर से आवाज़ आई, "अल्लाह! उसका बेड़ा ग़र्क कर। मेरा आदमी कैद में है और वह घर में पड़ा है। उसका

सत्यानाम कर। जिसका क़सूर है, अल्लाह उसको जवानी की मौत दे।"

रामप्यारी अब न सह सकी। उसने ज़ोर से साँकल हिलाई। कोचवान की बीवी ने किवाड़ खोल दिया। रामप्यारी का विचार था कि उसकी गालियों का उत्तर दे और उसका मुँह ज़ोर से बन्द कर दे, परन्तु उसकी जिह्वा को जैसे किसी ने पकड़ लिया और पाँव भूमि में गाड़ दिये।

कोचवान की स्त्री ने देखा, कोई भले घर की सुन्दरी खड़ी है। वह घबरा कर बोली, "आप किसे पूछती हैं?"

रामप्यारी को बातचीत का रस्ता मिल गया। उसने धीरे से उत्तर दिया, "तुम्हें।"

"मुझे।"

"हाँ हाँ मैं तुम्हारी अपराधिन हूँ। तुमसे क्षमा माँगने आई हूँ।"

कोचवान की स्त्री ने विस्मित सी होकर पूछा, "साफ़ साफ़ कहें। आपका मतलब क्या है?"

"तुम अभी अभी गालियाँ किसे दे रही थीं।"

"लाला चमनलाल को। उसने मेरे घरवाले को क़ैद करा दिया है।"

"मैं उनकी स्त्री हूँ।"

कोचवान की स्त्री स्तम्भित सी खड़ी रह गई और नम्रता-

पूर्वक विनय-भाव के साथ बोली, "मेरा मन बहुत दुखी है, मेरी ज़बान मेरे क़ाबू में नहीं।"

जब क्रोध नम्रता का आकार धारण कर लेता है तो अभिमान भी सिर झुका लेता है। रामप्यारी ने हाथ जोड़ कर कहा, गालियाँ उनको न दो मुझे दो। यह मेरा अपराध है। यदि मैं सीधे राह चलती, यदि मैं सोच समझ कर उचितानुचित देख कर ख़र्च करती, तो आज उनकी यह दशा न होती। मख़मली स्लीपरों के बिना मुझे चैन न पड़ती थी। फलों के बिना मुझे रोटी न पचती थी। रेशम का थान मेरे लिए ही मँगवाया गया था। साड़ी मेरे लिए ही आई थी। तुम्हारी अपराधिन मैं ही हूँ। तुम्हारा शाप मेरे नाम पर पड़ना चाहिए। तुम्हारी आवाज़ मेरे विरुद्ध उठनी चाहिए। वे चाहते थे कि तुम्हारे पति का जुर्माना आप अदा कर दें, परन्तु व्यर्थ के ख़र्च रास्ते में बाधक हुए, तुम मुझको कोसो, मुझे शाप दो, तुम्हारी अपराधिन मैं हूँ।"

कोचवान की स्त्री ने सिर झुका कर उत्तर दिया, "मेरी ज़बान में कीड़े पड़ जायँ, ये बातें क्यों कहीं? पर रानी! देख लो, मेरे घर का सारा असबाब पच्चीस रुपये का भी नहीं, वर्ना तन के कपड़े बेच कर भी उनको छुड़ा लाती। तुम नहीं जानतीं, हमने भी कभी अच्छे दिन देखे हैं। पर आज पैसे पैसे को लाचार हैं। जब से वे हवालात में हैं, हमारे चूल्हे में आग नहीं जली।"

रामप्यारी ने दुपट्टे के अञ्चल से रुपये खोले और कोचवान की स्त्री के हाथ में रख दिये। इस समय उसका मन आनन्द से नाच रहा था, जैसे सूरज की सुनहरी किरणें पानी पर नाचती हैं। उसने अच्छे से अच्छे खाने खाये थे, बढ़िया से बढ़िया वस्त्र पहने थे, धनवान स्त्रियों से मिली थी, परन्तु ऐसा आध्यात्मिक आनन्द, ऐसा सच्चा सुख उसे आज पहली ही बार अनुभव हुआ। वह आनन्द से केले के पत्ते की तरह काँपने लगी।

कोचवान की स्त्री कृतज्ञता के भाव से रामप्यारी के चरणों में गिर पड़ी और रोती हुई बोली, "मुझे माफ़ करो। मैंने तुम्हें बहुत दुख दिया है।"

रामप्यारी ने उसे उठा कर गले से लगा लिया और कहा, "उनको दो दिन से अपने तन की भी सुध नहीं। उनके लिए दुआ करो। इससे बुख़ार उतर जायगा।"

कोचवान की स्त्री घुटनों के बल झुक गई और दोनों हाथ ऊँचे उठा कर बोली, "अल्लाह उसे राज़ी कर। इसके कलेजे को ठण्डक दे।"

रामप्यारी ने यह सुना, तो ख़ुश हो गई। उसे विश्वास हो गया, कि चमनलाल का बुख़ार उतरने में अब देर नहीं। वह भागी भागी घर पहुँची। परन्तु आशीष उससे पहले पहुँच चुकी थी। चमनलाल का ज्वर हलका हो गया

था और वे धीरे धीरे अपनी कन्या से बातें कर रहे थे। रामप्यारी को देख कर बोले, "साड़ी हाथ से गई।"

"परन्तु उसके बदले में ऐसी शिक्षा मिली है जो आजीवन न भूलेगी। और यह शिक्षा साधारण नहीं। इसके सामने बड़े से बड़ा आभूषण भी तुच्छ है। आज मेरी आँखें खुल गई हैं। मगर अब आपका हाल क्या है?"

"अच्छा हूँ।"

और दूसरे दिन उनका बुखार उतर गया।

पाप-परिणाम

(१)

रात के दो बजे साधु अपने गर्म बिस्तर से उठा, और नदी के तट पर जाकर खड़ा हो गया।

चारों ओर अन्धकार था। आकाश में तारे आंखें मींचते थे। किसी ओर से कोई हल्का सा भी शब्द न सुनाई देता था। संसार और उसका कोलाहल इस शून्य अन्धकार में इस प्रकार डूब चुके थे, जिस प्रकार कोई नौका अपने यात्रियों समेत समुद्र की गरजती हुई लहरों में समा जाय। साधु के पाँवों की चाप दूर दूर तक सुनाई दे रही थी। ऐसा जान पड़ता था, मानो प्रकृति की निस्तब्धता उस साधु के कुसमय के हस्तक्षेप के विरुद्ध विद्रोह कर रही है। परन्तु जिस प्रकार साधु ने मनोहर स्वप्नों से भरे हुए गर्म बिस्तर और उसके शोभा-मय सुख तथा विश्राम का विचार न किया था, उसी प्रकार प्रकृति की इस मौन-भञ्जक चीख़-पुकार की परवा न की, और अपनी कुटिया से निकल कर नदी-तट पर पहुँच गया।

पानी बहुत ठण्डा था, जैसे किसी बेपरवा नौकर ने अपने शराबी मालिक के बार बार कहने से तङ्ग आकर थोड़े से पानी में बहुत सी बर्फ़ डाल दी हो। साधु ने उसकी ओर देखा और उसका हृदय डर गया। उसने बैठ कर पानी में हाथ

डाला और काँप कर पीछे हटा लिया। मालूम होता था, नदी भी इस हस्तक्षेप को सहन न करती थी। उसने अपने सम्पूर्ण बर्फ़ानी प्रभाव की परीक्षा साधु के हाथ पर की, और परिणाम देखने के लिए ठहर गई। परन्तु साधु पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा। उसने तत्काल अपनी काली कमली शरीर से अलग की, और आँखें बन्द करके जल में कूद पड़ा।

साधु पर मूर्छा की सी दशा छा गई, और वह जल की तरङ्गों के साथ साथ इस प्रकार बहने लगा जैसे कोई अपराधी सिपाहियों से घिरा हुआ थाने को जा रहा हो। एकाएक वह अपने पाँव नदी के जल से भी अधिक ठण्डी रेत पर जमा कर खड़ा हो गया, और अपने शरीर तथा आत्मा का पूरा बल लगा कर तट पर जा चढ़ा। इस समय उसके मुख पर आनन्द बरसता था, मानो अपराधी सिपाहियों के घेरे से बाहर निकल आया था।

थोड़ी देर के बाद वह अपनी कुटिया में वापस आ गया, और अपने बिस्तर के पास खड़ा होकर उसको इस प्रकार बेबसी की दृष्टि से देखने लगा, जैसे कोई भूख का मारा ग़रीब धनवान मनुष्य को अच्छे अच्छे खाने खाते देख कर व्याकुल हो जाता है, परन्तु इसके सिवा कुछ नहीं कर सकता कि अपनी बेबसी पर सन्तोष करे। यहाँ उसने अपनी कमली फिर उतार दी और कोने से एक कोड़ा उठा कर उसे अपनी देह पर पूरे बल से मारने लगा।

वायुमण्डल उसके करुण-क्रन्दन से गूँज रहा था। परन्तु वह अपनी देह पर उसी ज़ोर से कोड़े बरसा रहा था, मानो उसका हाथ उसके शरीर का एक अङ्ग न रहा हो, और वह किसी मनुष्य पर नहीं किन्तु निर्जीव मांस-पिण्ड पर अपने बल की परीक्षा कर रहा हो।

× × × × ×

जब प्रभात का चांदना हुआ तब लोगों ने देखा कि साधु अपनी कुटिया के ठण्डे फ़र्श पर अचेत पड़ा है और उसके कई अङ्गों से रक्त बह रहा है। उन्होंने आग जलाई और उसके ठण्डे शरीर को कम्बल में लपेट कर उसके निकट रख दिया। जब दो-तीन घण्टे बीत गये तब उसने आँखें खोलीं, और ठंडी साँस भर कर उठ बैठा।

परन्तु अब उसमें वह धैर्य न था। उसका स्थान सिस-कियों और हिचकियों ने ले लिया था। कुछ देर बाद जब उसके आँसू रुके तब उसने अपने हाथ आग पर गर्म करते हुए कहना आरम्भ किया—

(२)

पचास वर्ष बीते जब मैंने निर्धनता की दशा में संसार के सङ्ग्राम-क्षेत्र में पाँव रक्खा। उस समय न हमारी आवश्यक-तायें इतनी अधिक थीं, न जीवन-सामग्री इतनी मँहगी। पचास-साठ रुपये कमानेवाला मनुष्य राजा समझा जाता था। मैंने अपनी आँखों से ऐसे मनुष्यों को देखा है जो पन्द्रह-बीस रुपये

कमाते थे, और दस-बारह मनुष्यों के कुटुम्ब का पालन करते थे, और बड़े राजसी ठाठ से। अब ये बातें स्वप्न हो गई हैं। लोग इन पर विश्वास नहीं करते। रुपये का मूल्य चवन्नी भी नहीं रहा। उस समय में लोग निर्धन न रहे हों, सो नहीं है। मैं स्वयं निर्धन था, ऐसा निर्धन कि कई कई दिन अन्न के बिना बीत जाते थे। मैंने कई स्थानों पर नौकरी का यत्न किया, परन्तु कहीं सफलता न हुई। छोटा काम करने को जी न चाहता था। लोक-लाज पाँवों की ज़ञ्जीर बन जाती थी। परन्तु जब कई महीने ख़ाली बैठे बीत गये तब लज्जा दूर हो गई। मैंने मिठाई का ख़ोन्चा लगा लिया। थोड़े ही दिनों में हालत बदल गई। सुख से दिन कटने लगे, यहां तक कि मेरे पास डेढ़ सौ रुपया नगद जमा था।

इतने रुपये आज-कल के समय में कुछ नहीं के बराबर हैं। परन्तु उस समय लोग इतने रुपये को एक भारी रक़म समझते थे। मेरी ख़ुशी का ठिकाना न था। ऐसा प्रसन्न फिरता था, जैसे किसी को पटवारगिरी मिल गई हो। हँसने की बात नहीं, पटवारी का पद उस समय ऐसा भारी पद था जैसे आज-कल डिप्टी कमीश्नरी भी नहीं। मेरे दिन अच्छे थे, दो परिश्रमी मनुष्यों से भेंट हो गई। उन्होंने कहा, क्या मज़दूरी कर रहे हो, हमारे साथ मिल कर व्यापार करो तो थोड़े दिनों में सोना हो जाओ।

बात साधारण थी, परन्तु मेरे दिल में शौक़ पैदा हो गया। मैंने ख़ोन्चे का काम छोड़ दिया, और उनके साथ मिल कर

व्यापार करने लगा। हम एक स्थान से सस्ता माल ख़रीदते थे, दूसरे स्थान पर मँहगे भाव बेच देते थे। थोड़े ही दिनों में रुपया कंकरों की तरह आने लगा। पता नहीं, भाग अच्छे थे अथवा हमारी बुद्धि का चमत्कार था, मिट्टी को हाथ लगाते तो वह भी सोना हो जाती थी। व्यापार में लाभ भी होता है, हानि भी। परन्तु परमात्मा जिसे देने पर आता है उसे हानि नहीं होती। मालूम होता है, परमेश्वर उन दिनों हमको देने पर तुला हुआ था। हमें किसी सौदे में हानि न होती थी। इसी प्रकार तीन वर्ष बीत गये। उस समय हमारे पास बहुत सा रुपया था। हमने छोटे-मोटे सौदे करने छोड़ दिये और जेहलम में लकड़ी का काम करने लगे। यह काम धीरे धीरे इतना बढ़ा कि हमको इस पर स्वयं आश्चर्य होता था। रुपया पानी की तरह आने लगा। दस वर्ष के बाद जब हिसाब किया गया तो हमारे हिसाब में दो लाख से ऊपर रुपया जमा था। अब हमारे दिलों में मैल आने लगा। जब तक निर्धन थे तब तक एक दूसरे पर भरोसा था, अब धनवान हुए तब वह भरोसा जाता रहा। एक दूसरे पर आँख रखने लगे। कभी कभी जोश में आ जाते थे, जैसे हम मनुष्य नहीं, लहू के प्यासे भेड़िये थे। दौलत ने आँखों पर परदे डाल दिये। हममें से प्रत्येक यही चाहता था कि दूसरे भाईवाल मर जायँ तो सारा धन उसी का हो जाय। कुछ दिन तक यह भाव दबे रहे, जैसे राख तले अँगारे दबे रहते हैं। परन्तु कब तक? अन्त में निश्चय हुआ कि हिस्से-

दारी तोड़ दी जाय और सब अलग अलग हो जायँ। अब अग्नि के चिङ्गारे राख से बाहर निकल आये थे।

(३)

मेरे भाईबाल लाला प्रभुदास और लाला हिकमतराय थे। प्रभुदास समझदार मनुष्य था, परन्तु बुरा न था। जो कुछ जी में आता, मुख से कह देता। वह कोई बात छिपाता न था, न छिपाना चाहता था। उसकी यह दुष्ट प्रकृति (?) हमें एक आँख न सुहाती थी। इसके विपरीत हिकमतराय बड़ा चतुर था। वह अपने भावों को मुख पर न आने देता था। हृदय में क्रुद्ध भी होता तो हँस हँस कर बातें करता, जैसे उसे कोई दुःख ही नहीं। मैं उसके इस गुण (?) पर मुग्ध हो गया। पीतल पर सोने का धोखा हो रहा था। जब किसी बात पर झगड़ा हो जाता तब मैं और हिकमतराय एक ओर होते, प्रभुदास दूसरी ओर। हम दोनों के सामने उसकी एक न चलती, जैसे दो भेड़ियों के सामने एक ग़रीब कुत्ता कभी नहीं ठहर सकता।

जब अलग अलग होने का निश्चय हो गया तब हिकमतराय मेरे पास आया, और बोला, "तो अलग अलग होने की नौबत आ गई।"

मैंने उसके मुँह की ओर देखते हुए कहा, "और क्या हो सकता है?"

"यदि यह न होता तो अच्छा था।"

"परन्तु अब तो इकट्ठे न निभेगी।"

"लोग क्या कहेंगे?"

"कहने दो, हम कर ही क्या सकते हैं?"

हिकमतराय ने ठंडी साँस भर कर कहा, "इस प्रभु-दास ने काम बिगाड़ दिया, नहीं तो हम कभी अलग न होते।"

"मेरे सामने उसका नाम न लो।"

"मुझे यह कल्पना भी न थी कि वह ऐसा मायावी पुरुष होगा।"

"जी चाहता है, उसे गोली से उड़ा दूँ।"

"उसे अपनी नेकदिली का बड़ा घमंड है।"

"दूसरों को तुच्छ समझता है। अब उसके साथ काम करने को जी नहीं चाहता।"

हिकमतराय ने मेरे पास सरक कर भेदभरी आँख से कहा, "अस्सी हज़ार रुपये के लगभग ले जायगा।"

मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे किसी ने कूँए में धकेल दिया हो। कलेजा ज़ोर ज़ोर से धड़कने लगा। कहा, "बिलकुल नासमझ मनुष्य है, सारा काम हम दोनों करते रहे हैं। भाग वह भी बराबर का ले जायगा।"

"इसमें क्या सन्देह है।"

"मेरा बस चले तो उसे कौड़ी न दूँ।"

"दुहाई मचा देगा। पानी पीना मुश्किल कर देगा।"

"क्या कोई उपाय नहीं ?"

हिकमतराय ने आकाश की ओर देखकर कहा, "परमात्मा उसे मौत दे तो हमारा काम बन जाय।"

जिस प्रकार सर्प का विष देखते देखते मनुष्य के शरीर में फैल जाता है, उसी प्रकार ये शब्द मेरे मस्तिष्क में घूम गये। सोचने लगा, क्या उसे मौत नहीं आ सकती। दो दिन इसी उधेड़-बुन में बीत गये। तीसरे दिन पता लगा कि प्रभुदास बीमार है। मैं ज़मीन से उछल पड़ा। आशा-लता लहलहाती दिखाई देने लगी। हिकमतराय से सलाह करके भागा भागा डाक्टर के पास गया। देर तक एकान्त में बातें होती रहीं, परन्तु डाक्टर सहमत न होता था। मैं हारे हुए जुआरियों की नाईं रुपये बढ़ाता जाता था, यहाँ तक कि पाँच हज़ार पर बात पक्की हो गई, और उसने प्रभुदास की औषध में एक विशेष प्रकार का चूर्ण मिला दिया। उस समय मैं ऐसा प्रसन्न था जैसे किसी को रियासत मिल गई हो। प्रभुदास रात को मर गया। उसने अभी तक ब्याह न किया था, न उसका कोई निकट-सम्बन्धी था। एक दूर के सम्बन्धी ने दावा करके हिस्सा लेने की धमकी दी। परन्तु हमने कह दिया कि वह हमारा नौकर था, हिस्सेदार न था। सहानुभूति के रूप में हमने उसे कुछ रुपये भी दे दिये। इन रुपयों ने उसका मुँह बन्द कर दिया। प्रभुदास का रुपया आधा मैंने ले लिया, आधा हिकमतराय ने। उस समय मुझे तनिक

विचार न आया कि यह पाप है। परन्तु आज उसकी कल्पना ही से प्राण निकलते हैं।

(४)

उन दिनों मेरा ब्याह हो चुका था, परन्तु सन्तान कोई न थी। हम दोनों पति-पत्नी पुत्र का मुख देखने को तरसते थे। कभी साधुओं के यहाँ जाते, कभी वैद्यों की ओषधियाँ खाते, परन्तु इनसे कुछ बनता न था। जब रुपया बँट चुका, तो मैंने स्त्री को लेकर हरद्वार की यात्रा की और दो-तीन महीने वहीं टिका रहा। उस समय मुझे विचार आता था कि मैंने पाप किया है, मुझे सुख न मिलेगा। इस विचार से मेरा हृदय व्याकुल हो जाता था, जैसे किसी ने मछली को गर्म रेत पर रख दिया हो; आँखों में आँसू भर आते थे। यही चाहता था; यदि सम्भव हो तो बीता हुआ समय लौटा लूँ। परन्तु यह असम्भव था। तब मैं इस विचार को मन से भुला देने का यत्न करता था, और साधु-सन्तों की सेवा करके अपने विचार के अनुसार पाप के कलङ्क को धो देता था। यदि मुझे उस समय वह ज्ञान होता कि यह काम इतना सुगम नहीं जितना कि मैं समझ रहा हूँ तो मैं कभी बेपरवाई न करता।

मगर मुझे अपने पाप का दण्ड न मिला, प्रत्युत उसी वर्ष मेरे यहाँ एक पुत्र हो गया। मेरे आनन्द का पारावार न था। मेरे पाँव भूमि पर न पड़ते थे, सोचता था, मेरे जैसा भागवान

कौन होगा ? धन और सुन्दर स्त्री पहले ही से प्राप्त थे, अब सन्तान भी मिल गई। संसार इन्हीं तीन वस्तुओं पर मरता है, मेरे पास तीनों थीं। कारोबार आरम्भ किया, उसमें भी सफलता हुई। अब पाप की स्मृति भी न रही। संसार की क्षणिक सफलताओं और थोड़े दिन के सुखों ने उसे आँख से ओझल कर दिया। पुण्यकर्म संसार का प्रकाश है, यह विचार मिथ्या सिद्ध हुआ। संसार में पाप फलता है, यह बात सिद्ध हो गई। ज्यों ज्यों बेटा बड़ा होता गया, आशा अपनी चादर फैलाती गई। पहले उसकी शिक्षा का प्रबन्ध घर पर किया गया, पश्चात् स्कूल भेज दिया। तुम से क्या कहूँ, वह कैसा प्यारा और सरल-हृदय था। उसके चेहरे पर भोलापन खेलता था। जो देखता, कहता, बड़ा भाग्यवान् लड़का है। माता-पिता का नाम बढ़ायेगा। मैं यह सुनता, तो आनन्द में झूमने लगता। परन्तु कभी कभी किसी अज्ञात भय से हृदय पर बोझ सा आ पड़ता, जैसे कोई कलेजे पर पत्थर सा रख देता हो।

इसी प्रकार बीस वर्ष बीत गये। बंशीलाल ने बी० ए० की परीक्षा पास कर ली और लॉ कालेज में पढ़ने लगा। मैं यह देखता था, और प्रसन्न होता था। सोचता था, एक-दो वर्ष की बात है, बंशीलाल वकील हो जायगा। उसके पश्चात् जजी मिलना कुछ कठिन नहीं। इस विचार से मेरा हृदय प्रफुल्लित हो जाता था। उन दिनों को आज भी स्मरण

करता हूँ तो नेत्रों से लहू के आँसू बहने लगते हैं। मेरा जीवन चाँदनी रात के समान था, जिसमें नाच और रङ्ग-रलियाँ हो रही हों। सहसा यह मधुर सङ्गीत करुण-विलाप में बदल गया—मेरी स्त्री को ज्वर आने लगा। यह ज्वर कोई असाधारण ज्वर न था। सावधानी से इलाज होने लगा। परन्तु एक महीना बीत गया, ज्वर न उतरा। दूसरा और तीसरा महीना भी इसी प्रकार व्यतीत हो गया और आराम न हुआ। अब मुझे भी चिन्ता हुई। लाहौर ले जाकर इलाज कराने का विचार किया। उन दिनों पञ्जाब में डाक्टर हैनरी वुड का बड़ा नाम था, उसे दिखाया। उसने बड़े ध्यान से देखा, और मुझसे एकान्त में कहा, "तपेदिक़ है, अब न बचेगी।"

यह सुन कर मेरे हाथों के तोते उड़ गये। ऐसा मालूम हुआ, जैसे आकाश सिर पर गिर पड़ेगा। डाक्टर की बात का विश्वास न हुआ। आश्चर्य्य से बोला—"तपेदिक़ है क्या?"

"हाँ तपेदिक़। शायद बच जाय, नुसख़ा लिखे देता हूँ। मगर कोई आशा नहीं?"

मैंने पूछा—"किसी पहाड़ पर ले जाऊँ तो कैसा हो?"

"ज़िन्दगी ज़रा लम्बी हो सकती है, मगर बीमारी न जायगी।"

"डाक्टर साहब! आपसे जो कुछ हो सकता है, कीजिए।"

मेरी आँखों में आँसू थे, शब्दों में हृदय की व्यथा। डाक्टर साहब ने करुणापूर्वक कहा—"मैं अपनी तरफ़ से पूरी कोशिश करूँगा, मगर आप यह बात मरीज़ा पर ज़ाहिर न होने दें।"

परन्तु यह बात मरीज़ा पर ज़ाहिर हो गई। पता नहीं किस तरह? एक दिन उसने मुझसे रोते रोते कहा, "मेरे मरने में अब अधिक दिन नहीं। अब बंसी का ब्याह कर दो, यह तो अपनी आँखों से देख लूँ।"

और मैंने उसकी यह इच्छा पूरी कर दी। उसी महीने बंसी का ब्याह हो गया। इसके बाद हम सब सोलन चले गये। आशा अन्तिम श्वास तक साथ नहीं छोड़ती।

(५)

परन्तु वह न बची। छः मास के पश्चात् उसका जीवन-प्रदीप निर्दयी मृत्यु के निष्ठुर झोंकों ने बुझा दिया। मुझ पर विपत्ति टूट पड़ी। और बंशी की दशा तो देखी न जाती थी। किसी ब्याहे हुए लड़के को अपनी माता से इतना प्रेम हो सकता है, यह मेरे लिए नया अनुभव था। वह फूट फूट कर रोता था। मैं उसे समझाता था, धीरज देता था, परन्तु उसका रोना कम न होता था। उसका उदास मुख देख कर मुझे अपना दुख भूल जाता था। मुझे कोई ऐसा दिन याद नहीं जब बंसी माँ को याद करके न रोया हो। कभी वह पुस्तकों का कीड़ा था, परन्तु अब पुस्तक देखने को उसका

जी न चाहता था। हारमोनियम का शौक़ था, वह भी न रहा; दिन-रात उदास रहने लगा। मेरे हृदय में नई चिन्ता उत्पन्न हुई। मैंने उसका जी बहलाने का प्रत्येक यत्न किया, परन्तु मुझे किसी में भी सफलता न हुई। लोग अपने पुत्रों के विषय में शिकायत करते हैं कि उन्हें माता-पिता से स्नेह नहीं। मैं चाहता था कि कदाचित् बंसीलाल में यह दोष होता तो ये दिन देख न पड़ते। परन्तु जो ललाट में लिखा है उसे कौन मिटा सकता है। बंसीलाल भी बीमार रहने लगा।

इतने में मालूम हुआ, मेरा कारोबार नष्ट हो गया है। जिस कारिंदे के हाथ मैंने काम-काज सौंप रक्खा था उसने मुझे धोखा दिया और दो-अढ़ाई लाख रुपया उड़ा कर भाग निकला। यह देख कर मेरे पाँवों-तले की मिट्टी निकल गई। बंसीलाल और उसकी स्त्री को सोलन छोड़ कर जेहलम पहुँचा, परन्तु वह कारिंदा कहाँ था? समाचार-पत्रों में विज्ञापन दिये, पुलिस में रिपोर्टें कीं, परन्तु वह न पकड़ा जा सका, न डूबा हुआ रुपया बचा। मैंने कारोबार को सँभालने का असीम प्रयत्न किया, परन्तु वह न सँभला। दिन पर दिन दशा बिगड़ती गई। जिस काम में हाथ डालता था, उसी में हानि हो जाती थी।

इस प्रकार चार महीने बीत गये, और बंसीलाल और उसकी स्त्री सोलन से आये। उसका मुँह देख कर मेरे प्राण होठों तक आ गये। मैं डाक्टर नहीं हूँ, न मैंने चिकित्सा

का कोई ग्रन्थ देखा है। परन्तु मैंने अपनी स्त्री की बीमारी देखी थी। मुझे बंसीलाल के मुख पर वही रंग दिखाई दिये, जो मेरी मृत-पत्नी के मुख पर थे। मेरे कलेजे पर जैसे किसी ने अङ्गारे रख दिये। मैंने बंसीलाल से कुछ न कहा, परन्तु अपने कमरे में जाकर रात भर रोता रहा। दूसरे दिन डाक्टर को दिखाया। मेरी आँख फड़कने लगी—माँ के बाद पुत्र की बारी थी। फिर तपेदिक़। मेरा मस्तिष्क चकराने लगा। परन्तु मैंने निश्चय कर लिया कि अपनी चर्ची-खुर्ची सम्पत्ति लुटा दूँगा। डाक्टर की सम्मति पर अक्षरशः चलूँगा, सावधानी में कोई कसर न उठा रक्खूँगा, और इस प्रकार पुत्र को मृत्यु के पञ्जे से छुड़ा लूँगा। मैं बंसी और उसकी स्त्री को लेकर सोलन चला गया। परन्तु रोग कुछ कम न हुआ। डाक्टरों ने सम्मति दी कि उसे स्विटज़रलैंड के सैनिटोरियम में ले जाओ, वहाँ जाकर बच सकता है। मेरे पास पन्द्रह हज़ार के लगभग रुपया बच रहा था। यह रुपया मुझे बहुत प्यारा था, परन्तु बंसीलाल के सम्मुख उसकी क्या तुलना थी? मैंने उसे स्विटज़रलैंड भेज दिया।

वह वहाँ दो वर्ष रहा। वहाँ उसका स्वास्थ्य बहुत कुछ अच्छा हो गया। यहाँ तक कि मेडिकल-बोर्ड ने फ़ैसला दे दिया कि उसे अब कोई बीमारी नहीं है। इस सूचना से मेरे आनन्द का पारावार न रहा, सारा दिन नाचता फिरता था। बंसीलाल ने अपना फ़ोटो भी भेजा था। उससे देख पड़ता था

कि पहले की अपेक्षा उसका स्वास्थ्य बहुत अच्छा है। चेहरा भी भर गया था। अब मैं उस दिन की प्रतीक्षा करने लगा कि वह कब वापस आये और मैं उसे पितृ-स्नेह से गले लगाऊँ। परन्तु जब वह दिन आया तब मेरी आशाओं पर ओस पड़ गई। बंसीलाल हिन्दुस्तान आ गया, परन्तु अपना स्वास्थ्य वहीं छोड़ आया। यदि मेरे पास और रुपया होता तो मैं रुपये का मुँह न देखता। परन्तु मेरी अवस्था दिन पर दिन गिर रही थी। मैंने अपनी ओर से पूरा पूरा यत्न किया कि कहीं से रुपया मिल जाय तो बंसी को फिर स्विटज़रलैंड भेज दूँ, परन्तु सफलता न हुई।

(६)

छः महीने बीत गये।

प्रातःकाल था। मैं बंसीलाल के पास बैठा उसके मुँह की ओर देख रहा था। आज उसकी अवस्था बहुत बिगड़ रही थी। न मुँह पर लाली थी, न आँखों में चमक। उनके स्थान पर लाश की सी ज़रदी छा गई थी। मैं यह देखता था और रोता था। उस समय मेरा सारा जीवन मेरी आँखों के सामने था। वे दिन याद आ गये जब मैंने मिठाई का ख़ोन्चा छोड़ कर व्यापार आरम्भ किया था। पास धन था, परन्तु हृदय में शान्ति का वास था। अब वे दिन कहाँ थे? मैंने जेब में हाथ डाल कर देखा तो उस समय मेरे पास केवल डेढ़ सौ रुपये थे। मैं चौंक पड़ा। भूली हुई घटनायें आँखों-तले फिर गईं। इतने ही रुपयों से मैंने व्यापार आरम्भ किया था।

उस समय न स्त्री थी, न पुत्र। क्या परमात्मा मुझे आज उसी स्थान पर फेंकने का प्रबन्ध कर रहा है। स्त्री पहले जा चुकी थी, बेटा अब जा रहा था।

एकाएक बंसीलाल ने ज़ोर से अँगड़ाई ली, और चारपाई पर तड़पने लगा। मैंने हृदय को अन्तिम चोट के लिए तैयार किया, और उठ कर मरनेवाले के ऊपर झुक गया। वह जान तोड़ रहा था। मैंने भर्राई हुई आवाज़ से कहा "बंसी!"

बंसी ने बेहोशी में उत्तर दिया, "हाँ।"

"होश करो।"

"हाँ होश में हूँ।"

"मैं कौन हूँ?"

बंसीलाल ने मेरी ओर अच्छी तरह देखा और तब कहा, "मेरा भाईवाल।"

यदि मेरे गले में साँप लिपट जाता तो भी मुझे ऐसा आश्चर्य्य न होता जैसा इस उत्तर से हुआ। हृदय पर घोर आतङ्क सा छा गया, जैसे किसी ने फाँसी के तख़्ते पर चढ़ा दिया हो। परन्तु मुझे फिर विचारआया, बंसी बेसुध है, यों ही बड़बड़ा रहा है, इसलिए मैंने फिर पूछा—

"बंसी!"

"हाँ"

अब स्वर अधिक स्पष्ट था।

"यह कौन है?"

इशारा उसकी स्त्री की ओर था।

बंसी ने अपनी पथराई हुई आँखें अपनी स्त्री की ओर उठाईं और कहा—"डाक्टर।"

"तुम कौन हो?"

"प्रभुदास।"

सन्देह निश्चय बन गया। मैं खड़ा न रह सका। मेरे शरीर की शक्ति जैसे पृथ्वी ने खींच ली। पाप का परिणाम ऐसा दुःखदायक होगा यह आशा न थी।

मैंने पुनर्जन्म की कथायें सुनी थीं, परन्तु उन पर विश्वास न आता था। इस समय प्रत्यक्ष प्रमाण मिल गया।

बंसी मर गया। मेरी आँखों में आँसू न थे। उन्हें पापों की अग्नि ने सुखा दिया था। मैंने उसका दाह-संस्कार किया और जेहलम से निकल आया। उसके पश्चात् मैंने आज तक वहाँ पाँव नहीं रक्खा।

अब मैं प्रतिदिन अपने शरीर को कष्ट देता हूँ, कोड़े मारता हूँ, और प्रत्येक मनुष्य को यह कहानी सुनाता हूँ, और फिर लोगों के सामने सिर झुका कर प्रार्थना करता हूँ कि मेरे सिर पर पाँच पाँच जूते लगा दो। कदाचित् इसी से मेरा पाप धुल जाय।

यह कहते कहते साधु ने अपना सिर नीचे झुका दिया।

———

अलबम

(१)

पंडित शादीराम ने ठंडी साँस भरी, और सोचने लगे—क्या यह ऋण कभी सिर से न उतरेगा ?

वह निर्धन थे, परन्तु दिल के बुरे न थे। वह चाहते थे कि चाहे जिस प्रकार भी हो, अपने यजमान—लाला सदानंद—का रुपया अदा कर दें। उनके लिए एक-एक पैसा मोहर के बराबर था। अपना पेट काट कर बचाते थे, परंतु जब चार पैसे इकट्ठे हो जाते, तो कोई ऐसा ख़र्च निकल आता कि सारा रुपया उड़ जाता। शादीराम के हृदय पर बर्छियाँ चल जाती थीं। उनका वही हाल होता था, जो उस डूबते हुए मनुष्य का होता है, जो हाथ-पाँव मारकर किनारे पहुँचे, और किनारा टूट जाए। उस समय उसकी दशा कैसी करुणा-जनक, कैसी हृदय-वेधक होती है ? वह प्रारब्ध को गालियाँ देने लगता है। यही दशा शादीराम की थी।

इसी प्रकार कई वर्ष बीत गये, शादीराम ने पैसा-पैसा बचा कर अस्सी रुपये जोड़ लिये। उन्हें लाला सदानंद के पाँच सौ रुपये देने थे। इस अस्सी रुपये की रक़म से ऋण उतरने का समय निकट आता प्रतीत हुआ। आशा धोखा

दे रही थी। एकाएक उनका छोटा लड़का बीमार हुआ, और लगातार चार महीने बीमार रहा। पैसा-पैसा करके बचाये हुए रुपये दवा-दारू में उड़ गये। पंडित शादीराम ने सिर पीट लिया। अब चारों ओर फिर अंधकार था। उसमें प्रकाश की हलकी सी किरण भी दिखाई न देती थी। उन्होंने ठंडी साँस भरी, और सोचने लगे—क्या यह ऋण कभी सिर से न उतरेगा?

लाला सदानंद अपने पुरोहित की विवशता को जानते थे, और न चाहते थे कि वह रुपये देने का प्रयत्न करें। उन्हें इस रक़म की रत्ती-भर भी परवा न थी। उन्होंने इसके लिए कभी तगादा तक नहीं किया, न कभी शादीराम से इस विषय की बात छेड़ी। इस बात से वह इतना डरते थे, मानो रुपये स्वयं उन्हीं को देने हों। परन्तु शादीराम के हृदय में शान्ति न थी। प्रायः सोचा करते थे कि यह कैसे भलेमानस हैं, जो अपनी रक़म के बारे में मुझसे बात तक नहीं करते? ख़ैर, यह कुछ नहीं करते, सो ठीक है; परंतु इसका तात्पर्य यह थोड़े ही है कि मैं भी निश्चिंत हो जाऊँ।

उन्हें लाला सदानंद के सामने सिर उठाने का साहस न था। उसे ऋण के बोझ ने नीचे झुका दिया था। यदि लाला सदानंद ऐसी सज्जनता न दिखलाते, और शादीराम को बार-बार तगादा करके तंग करते, तो उन्हें ऐसा मान-

सिक कष्ट न होता। हम अत्याचार का सामना सिर उठा कर कर सकते हैं; परंतु भलमनसी के सामने आँखें नहीं उठतीं।

एक दिन लाला सदानंद किसी काम से लाला शादीराम के घर गये, और उनकी आलमारी में कई सौ बँगला, हिन्दी, अँगरेज़ी आदि भाषाओं की मासिक पत्रिकायें देखकर बोले—"यह क्या है ?"

लाला शादीराम ने पैर के अँगूठे से ज़मीन कुरेदते हुए उत्तर दिया—"पुरानी पत्रिकायें हैं। बड़े भाई को पढ़ने का बड़ा चाव था, वह प्रायः मँगवाते रहते थे। जब जीते थे, तो किसी को हाथ न लगाने देते थे। अब इन्हें कीड़े खा रहे हैं।"

"रद्दी में क्यों नहीं बेच देते ?"

"इनमें चित्र हैं। जब कभी बच्चे रोने लगते हैं, तो एक-आध निकाल कर दे देता हूँ। इससे उनके आँसू थम जाते हैं।"

लाला सदानंद ने आगे बढ़ कर कहा—"दो-चार परचे दिखाओ तो।"

पंडित शादीराम ने कुछ परचे दिखाये। हर-एक परचे में कई-कई सुन्दर और रंगीन चित्र थे। लाला सदानंद कुछ देर तक उलट-पुलट कर देखते रहे। सहसा उनके हृदय में एक विचित्र विचार उठा। चौंक कर बोले—"पंडितजी !"

"कहिए।"

"ये चित्र कला-सौन्दर्य के अति उत्तम नमूने हैं। अगर किसी शौक़ीन को पसन्द आ जायँ, तो हज़ार दो हज़ार रुपये कमा लो।"

पण्डित शादीराम ने एक ठण्डी साँस लेकर कहा—

"ऐसे भाग्य होते, तो यों धक्के न खाता फिरता।"

लाला सदानन्द बोले—"एक काम करो।"

"क्या ?"

"आज बैठकर इन पत्रिकाओं में जितनी अच्छी अच्छी तसवीरें हैं, सबको छाँटकर अलग कर लो।"

"बहुत अच्छा।"

"जब यह कर चुको, तो मुझे पता देना।"

"आप क्या करेंगे ?"

"मैं इनका अलबम बनाऊँगा, और तुम्हारी ओर से विज्ञापन दे दूँगा। सम्भव है, यह विज्ञापन किसी शौक़ीन के हाथ पड़ जाय, और तुम चार पैसे कमा लो।"

(२)

पण्डित शादीराम को यह आशा न थी कि कोयलों में हीरा मिल जायगा। घोर निराशा ने आशा के द्वार चारों ओर से बन्द कर दिये थे। वह उन हत-भाग्य मनुष्यों में से थे, जो संसार में असफल, और केवल असफल, रहने के लिए उत्पन्न होते हैं। सोने को हाथ लगाते थे, तो वह भी मिट्टी हो जाता था। उनकी ऐसी धारणा ही नहीं, पक्का

विश्वास था कि यह प्रयत्न भी कभी सफल न होगा। परन्तु लाला सदानन्द के आग्रह से दिनभर बैठकर तसवीरें छाँटते रहे। न मन में लगन थी, न हृदय में चाव। परन्तु लाला सदानन्द की बात को टाल न सके। शाम को देखा, दो सौ एक-से-एक बढ़िया चित्र हैं, उस समय वह उन्हें देखकर स्वयं उछल पड़े। उनके मुख पर आनन्द की आभा नृत्य करने लगी। जैसे फेल हो जाने का विश्वास करके अपनी प्रारब्ध पर रो चुके विद्यार्थी को पास हो जाने का तार मिल गया हो। उस समय वह कैसा प्रसन्न होता है? चारों ओर कैसी विस्मित और प्रफुल्लित दृष्टि से देखता है? यही अवस्था पण्डित शादी-राम की थी। वह उन चित्रों की ओर इस प्रकार देखते थे, मानों उनमें से प्रत्येक दस-दस रुपये का नोट हो। बच्चों को उधर देखने न देते थे। वह सफलता के विचार से ऐसे प्रसन्न हो रहे थे, जैसे सफलता प्राप्त हो चुकी हो, यद्यपि वह अभी कोसों दूर थी। लाला सदानन्द की आशा उनके मस्तिष्क में निश्चय का रूप धारण कर चुकी थी।

लाला सदानन्द ने चित्रों को अलबम में लगवाया, और कुछ उच्च कोटि के समाचार-पत्रों में विज्ञापन दे दिया। अब पण्डित शादीराम हर समय डाकिए की प्रतीक्षा करते रहते थे। रोज़ सोचते कि आज कोई चिट्ठी आवेगी। दिन बीत जाता, और कोई उत्तर न आता था। रात को आशा सड़क की धूल की तरह बैठ जाती थी। परन्तु दूसरे दिन

लाला सदानन्द की बातों से टूटी हुई आशा फिर बँध जाती थी, जिस प्रकार गाड़ियाँ चलने से पहले दिन की बैठी हुई धूल हवा में उड़ने लगती है। आशा फिर अपना चमकता हुआ मुख दिखाकर दरवाज़े पर खड़ा कर देती थी। डाक का समय होता, तो बाज़ार में ले जाती, और वहाँ से डाकख़ाने पहुँचाती थी। इसी प्रकार एक महीना बीत गया, परन्तु कोई पत्र न आया। पण्डित शादीराम सर्वथा निराश होगये। परन्तु फिर भी कभी-कभी सफलता का विचार आ जाता था, जिस प्रकार अँधेरे में जुगनू चमक जाता है। यह जुगनू की चमक निराश हृदयों के लिए कैसी जीवनदायिनी, कैसी हृदयहारिणी होती है! इसके सहारे भूले हुए पथिक मंज़िल पर पहुँचने का प्रयत्न करते और कुछ देर के लिए अपना दुःख भूल जाते हैं। इस झूठी आशा के अन्दर सच्चा प्रकाश नहीं होता; परन्तु यह दूर के सङ्गीत के समान मनोहर अवश्य होती है। इसमें वर्षा की नमी हो या न हो, परन्तु इससे काली घटा का जादू कौन छीन सकता है?

आख़िर एक दिन शादीराम के भाग्य जागे। कलकत्ते के एक मारवाड़ी सेठ ने पत्र लिखा कि अलबम भेज दो, यदि पसन्द आ गया, तो ख़रीद लिया जायगा। मूल्य की कोई चिन्ता नहीं, चीज़ अच्छी होनी चाहिए। यह पत्र उस करवट के समान था, जो सोया हुआ मनुष्य जागने से पहले बदलता है और उसके पश्चात् उठकर बिस्तरे पर बैठ जाता है। यह

किसी पुरुष की करवट न थी, किसी स्त्री की करवट न थी, यह भाग्य की करवट थी। पण्डित शादीराम दौड़े हुए लाला सदानन्द के पास पहुँचे, और उन्हें पत्र दिखाकर बोले—"भेज दूँ ?"

लाला सदानन्द ने पत्र को अच्छी तरह देखा, और उत्तर दिया—"रजिस्टर्ड कराकर भेज दो। शौक़ीन आदमी है, ख़रीद लेगा।"

"और मूल्य ?"

"लिख दो, एक हज़ार रुपये से कम पर सौदा न होगा।"

कुछ दिन बाद उन्हें उत्तर में एक बीमा मिला। पण्डित शादीराम के हाथ-पैर काँपने लगे। परन्तु हाथ-पैरों से अधिक उनका हृदय काँप रहा था। उन्होंने जल्दी से लिफ़ाफ़ा खोला, और उछल पड़े। उसमें सौ-सौ रुपये के दस नोट थे। पहले उनके भाग्य ने करवट बदली थी, अब वह पूर्णरूप से जाग उठा। पण्डित शादीराम खड़े थे, बैठ गये। सोचने लगे—अगर दो हज़ार रुपये लिख देता, तो शायद उतने ही मिल जाते। इस विचार ने उनकी सारी प्रसन्नता किरकिरी कर दी।

(३)

सायंकाल के समय वह लाला सदानन्द के पास गये, और पाँच सौ रुपये के नोट सामने रखकर बोले—"परमात्मा का धन्यवाद है कि मुझे इस भार से छुटकारा मिला। अपने

रुपये सँभाल लीजिए। आपने जो दया और सज्जनता दिखलाई है, उसे मैं मरण-पर्यन्त न भूलूँगा।"

लाला सदानन्द ने विस्मित से होकर पूछा—"पण्डितजी! क्या सेठ ने अलबम ख़रीद लिया?"

"जी हाँ, रुपये भी आ गये।"

"एक हज़ार?"

"जी हाँ। नहीं तो मुझ निर्धन ब्राह्मण के पास क्या था, जो आपका ऋण चुका देता, परमात्मा ने मेरी सुन ली।"

"मैं पहले भी कहना चाहता था; परन्तु कहते हुए हिचकिचाता था कि आपके हृदय को कहीं ठेस न पहुँचे। पर अब मुझे यह भय नहीं है; क्योंकि रुपये आपके हाथ में हैं। मेरा विचार है कि आप ये रुपये अपने ही पास रक्खें। मैं आपका यजमान हूँ। मेरा धर्म है कि आपकी सेवा करूँ।"

पण्डितजी की आँखों में आँसू आ गये, दुपट्टे से पोंछते हुए बोले—"आप-जैसे सज्जन संसार में बहुत थोड़े हैं। परमात्मा आपको चिरञ्जीवी रक्खें। परन्तु अब तो मैं ये रुपये न लूँगा। इतने वर्ष आपने माँगे तक नहीं, यह उपकार कोई थोड़ा नहीं है। मुझे इससे उऋण होने दीजिए। ये पाँच सौ रुपये देकर मैं हृदय की शान्ति ख़रीद लूँगा।"

निर्धन ब्राह्मण की यह उदारता और सच्चरित्रता देखकर सदानन्द का मनोमयूर नाचने लगा। उन्होंने नोट ले लिये। मनुष्य रुपये देकर भी ऐसा प्रसन्न हो सकता है, इसका अनुभव

उन्हें पहली ही बार हुआ। पण्डितजी के चले जाने पर उन्होंने अपनी आँखें बंद कर लीं, और किसी विचार में मग्न हो गये। इस समय उनके मुख-मंडल पर एक विशेष आत्मिक तेज था।

(४)

छः मास बीत गये।

लाला सदानंद बीमार थे। ऐसे बीमार वह सारी आयु में न हुए थे। पण्डित शादीराम उनके लिए दिन-रात माला फेरा करते थे। वह वैद्य न थे, डॉक्टर न थे। वह ब्राह्मण थे, उनकी औषधि माला फेरना ही थी, और यह काम वह अपनी आत्मा की पूरी शक्ति, अपने मन की पूरी श्रद्धा से करते थे। उन्हें औषधि की अपेक्षा आशीर्वाद और प्रार्थना पर अधिक भरोसा था।

एक दिन लाला सदानंद चारपाई पर लेटे थे। उनके पास उनकी बूढ़ी माँ उनके दुर्बल और पीले मुख को देख-देख कर अपनी आँखों के आँसू अन्दर-ही-अन्दर पी रही थी। थोड़ी दूर पर, एक कोने में, उनकी नवोढा स्त्री घूँघट निकाले खड़ी थी, और देख रही थी कि कोई काम ऐसा तो नहीं, जो रह गया हो। पास पड़ी हुई एक चौकी पर पण्डित शादीराम बैठे रोगी को भगवद्गीता सुना रहे थे।

एकाएक लाला सदानंद बेसुध हो गये।

पण्डितजी ने गीता छोड़ दी, और उठ कर उनके सिरहाने बैठ

गये। स्त्री गर्म दूध लेने के लिए बाहर दौड़ी, और माँ अपने बेटे को घबराकर आवाज़ें देने लगी। इस समय पण्डितजी को रोगी के सिरहाने के नीचे कोई कड़ी-सी चीज़ चुभती हुई जान पड़ी। उन्होंने नीचे हाथ डाल कर देखा, तो उनके आश्चर्य की सीमा न रही! यह सख़्त चीज़ वही अलबम था, जिसे किसी सेठ ने नहीं, बल्कि स्वयं लाला सदानंद ने ख़रीद लिया था।

पण्डित शार्दीराम इस विचार से बहुत प्रसन्न थे कि उन्होंने सदानंद का ऋण उतार दिया है। परंतु यह जानकर उनके हृदय पर चोट-सी लगी कि ऋण उतरा नहीं, बल्कि पहले से दूना हो गया है।

उन्होंने अपने बेसुध यजमान के पास बैठे-बैठे एक ठंडी साँस भरी, और सोचने लगे—"क्या यह ऋण कभी न उतरेगा?"

कुछ देर के बाद लाला सदानंद को होश आया। उन्होंने पण्डितजी से अलबम छीन लिया, और धीरे से कहा—"यह अलबम सेठ साहब से अब मैंने मँगवा लिया है।"

पण्डितजी जानते थे कि यजमानजी झूठ बोल रहे हैं। परंतु वह उन्हें पहले की अपेक्षा अधिक सज्जन, अधिक उपकारी और अधिक ऊँचा समझने लगे थे।

कवि की स्त्री

(१)

सत्यवान—

छात्रावस्था में मैं और मणिराम साथ ही साथ पढ़े थे। उस समय हम एक दूसरे पर प्राण देते थे। बचपन के दिन थे जब तक एक दूसरे को देख न लेते, शान्ति न मिलती। उस समय हमें बुद्धि न थी। बाद में प्रेम का स्थान वैर ने ले लिया, दोनों एक दूसरे के लहू के प्यासे हो गये। तब हम शिक्षित हो चुके थे। एफ० ए० की परीक्षा पास करने के पश्चात् हमारे रास्ते अलग अलग हो गये। मणिराम मेडिकल-कालेज में भर्ती हो गया। मैंने साहित्य-संसार में पाँव रक्खा। मुझे रुपये-पैसे की परवा न थी, पूर्वजों की सम्पत्ति ने इस ओर से निश्चिंत कर दिया था। दिन-रात कविता के रस में लवलीन रहता और कई कई दिन घर से बाहर न निकलता। इन दिनों मेरे सिर पर यही धुन सवार रहती थी। एक एक पद पर घण्टों ख़र्च हो जाते थे। अपनी रचना को देख कर मैं गर्व से झूमने लग जाता था। कभी कभी मुझे अपनी कविता में तुलसीदास की उपमा और सूरदास के रूपकों का स्वाद आता

था। परन्तु जब मेरी कवितायें पत्रों में निकलने लगीं तो मेरा कवित्व का मद उतरने लगा। मद उतर गया, परन्तु उसका प्रभाव न गया। यह प्रभाव प्रख्याति, कीर्ति और यश का प्रभाव था। थोड़े ही वर्षों में मेरा नाम हिन्दी-संसार में प्रसिद्ध हो गया। मैं अब कुछ काम न करता था। केवल बड़े बड़े लोगों को पार्टियाँ दिया करता था। अब इसके बिना मुझे चैन न मिलती थी। अब कविता में भी उतना मन न लगता था। पहले मेरा सारा समय इसी की भेंट होता था, अब वह जी-बहलाने की चीज़ हो गई थी। परन्तु जब कभी कुछ लिखता तो रङ्ग बाँध देता था। साधारण विषय को भी लेता तो उसमें जान डाल देता था।

उधर मणिराम चिकित्सा के ग्रन्थों के साथ सिर फोड़ता रहा। पाँच वर्ष बाद एसिस्टेंट सर्जरी की परीक्षा पास करके उसने अपनी दूकान खोल ली। परीक्षा का परिणाम निकलने के समय उसका नाम एक बार समाचार-पत्र में प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् फिर कभी उसका नाम पत्रों में नहीं छपा। इधर मेरी प्रशंसा में प्रति दिन समाचार-पत्रों के पृष्ठ भरे रहते थे। वह दूकान पर सारा दिन बैठा रोगियों की बाट देखता रहता था, परन्तु उसका नाम कौन जानता था? लोग उधर जाते हुए झिझकते थे। मैं उसकी ओर देखता तो घृणा से मुँह फेर लेता, जिस प्रकार मोटर में चढ़ा हुआ मनुष्य पैदल जानेवालों को घृणा से देखता है।

(२)

एक दिन एक पत्र आया। उसमें मेरी कवित्व-कला की बहुत ही प्रशंसा की गई थी और मुझे देश और जाति के लिए सम्मान और गौरव का हेतु बताया गया था। मेरे पास ऐसे पत्र प्रायः आते रहते थे, यह कोई नई बात न थी। मैं कभी कभी तो ऐसे पत्रों को देखकर झुँझला उठता था। परन्तु यह पत्र एक स्त्री की ओर से था। हम पुरुषों की ओर से उपेक्षा कर सकते हैं, परन्तु किसी कोमलाङ्गी के साथ यह व्यवहार करने को जी नहीं चाहता। और यह पत्र किसी साधारण स्त्री की ओर से नहीं था। इसकी लेखिका देहरादून के प्रसिद्ध रईस ठाकुर हृदयनारायण की शिक्षित लड़की सावित्री थी जिसने इसी वर्ष बी० ए० की परीक्षा पास की थी। उसके सम्बन्ध में समाचार-पत्रों में कई लेख निकले थे, परन्तु मैंने उन्हें पढ़ने की आवश्यकता न समझी थी। इस पत्र ने सब कुछ याद करा दिया। मैंने उसी समय लेखनी पकड़ी, और जवाब लिखने बैठ गया। परन्तु हाथ जवाब दे रहे थे। ऐसी लगन से कोई विद्यार्थी अपनी परीक्षा के पर्चे भी न लिखता होगा। एक एक शब्द पर रुकता था, और नये नये शब्द ढूँढ़ कर नये नये विचार लेखनी के अर्पण करता जाता था। मैंने सावित्री और उसकी विद्वत्ता की प्रशंसा में कोष के सम्पूर्ण सुन्दर शब्द समाप्त कर दिये। अपनी अयोग्यता को भी स्वीकार किया —आप मेरी प्रशंसा

करती हैं, यह आपका बड़प्पन है, अन्यथा मेरी कविता में धरा ही क्या है? न कल्पना में सौन्दर्य है, न शब्दों में मिठास। रस कविता का प्रधान अङ्ग है, वह मेरी कविता से कोसों दूर है। हम कवि बन बैठते हैं, परन्तु कवि बनना आसान नहीं। इसके लिए देखनेवाली आँख और सुननेवाले कान दोनों की आवश्यकता है, इत्यादि। कहने की आवश्यकता न होगी कि अपनी प्रशंसा करने का यह एक बढ़िया ढङ्ग है।

कुछ दिन के पश्चात् इस पत्र का उत्तर आया—यह जो कुछ आपने लिखा है आप जैसे महा-पुरुषों के योग्य ही है, परन्तु मैं तो आपको टेनिसन और वर्डस्वर्थ से बढ़कर समझती हूँ। आप कहते हैं कि आपकी कविता रस-हीन है, होगी। परन्तु मुझ पर तो वह जादू कर देती है। घण्टों प्रेम-सागर में डुबकियाँ लगाती हूँ। खाना-पीना भूल जाता है। जी चाहता है, आपकी लेखनी चूम लूँ।

यह पत्र शराब की दूसरी बोतल थी। और अन्तिम वाक्य ने तो हृदय में आग लगा दी। मैंने फिर उत्तर दिया, और पत्र में हृदय खोल कर रख दिया। कवि अपने चाहनेवालों को आकाश पर चढ़ा देता है। मैंने भी सावित्री की प्रशंसा में आकाश-पाताल एक कर दिया। लिखा—कारलाइल का कथन है कि कवि केवल वही नहीं जो कविता लिख सकता है, प्रत्युत प्रत्येक व्यक्ति, जो कविता समझ सकता है और

उसके मर्म तक पहुँच सकता है, कवि है। इस रूप में तुम भी कवि हो। मैंने अच्छों अच्छों को देखा है, कविता के महत्त्व को नहीं समझ सकते। परन्तु तुम तो बाल की खाल निकालती हो। तुम्हारी योग्यता पर मुझे आश्चर्य होता है। धन्य है भारतभूमि! जिसमें तुम जैसी देवियाँ खेलती हैं।

मैंने सैकड़ों उपन्यास पढ़े थे, अच्छी सी अच्छी कवितायें देखी थीं, परन्तु जो रस, जो स्वाद सावित्री के पत्रों में था वह किसी में न था। यही जी चाहता था कि उन्हीं को पढ़ता रहूँ।

(३)

सावित्री—

निस्सन्देह वे मुझे चाहते हैं, अन्यथा इस प्रकार तुरन्त ही उत्तर-प्रत्युत्तर न देते। आज पत्र लिखती हूँ, तीसरे दिन उत्तर आ जाता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो मेरे पत्र की राह देख रहे थे। उनके पत्र उनकी कविता से अधिक सरस हैं, पढ़ कर चित्त प्रसन्न हो जाता है। और कभी कभी तो ऐसी चुटकी लेते हैं कि मन अधीर हो उठता है। मैंने चित्र माँग भेजा था। उत्तर देते हैं—तुमने लिखा है कि चित्र भेज रही हूँ, परन्तु मुझे तो आज तक नहीं मिला। रजिस्ट्री की रसीद हो तो भेज दो, डाकखाने पर नालिश कर दूँ। हठात् मुझे अपना चित्र भेजना पड़ा। उत्तर में उनका चित्र आ गया। मेरा विचार सच्चा निकला। कैसे सुन्दर हैं! मुख पर राजकुमारों जैसा लावण्य झलकता है। मेरे

हृदय को पहले ही चैन न थी, चित्र ने रही सही भी छीन ली। रात को नींद नहीं आती। उनकी अन्तिम कविता ने उनका हृदय मुझ पर खोल दिया है। 'प्रीतम से' कैसा प्यारा शीर्षक है! एक एक अक्षर से प्रेम टपकता है। इससे पहली कविता 'पाती निहार कर' भी मुझ पर ही लिखी गई थी। लिखती हूँ, तुम मुझे बदनाम करके छोड़ोगे। यह तो कहो, तुम मेरे पीछे पल्ले झाड़ कर क्यों पड़ गये हो? एक और कविता 'एकान्त में' प्रकाशित हुई है। इससे जान पड़ता है, अभी तक कुँवारे हैं। तो मेरी.. परन्तु वे इतना परिश्रम क्यों करते हैं? बहुत पढ़ना-लिखना मनुष्य को बाँस की तरह खोखला कर देता है। लिखती हूँ, कविता लिखना बन्द कर दो और अपने शरीर की ओर ध्यान दो, मुझे बड़ी चिन्ता रहती है। इसके बाद मैंने उनके सम्बन्ध में सब कुछ मालूम कर लिया। वे हमारी ही बिरादरी के हैं और कुँवारे हैं।

मैंने पत्र लिखा। पहले पत्रों और इस पत्र में बहुत भेद था। इसमें कोई 'सङ्कोच', कोई 'बनावट' न थी—"तुम्हारे पत्रों से सन्तोष नहीं होता! जी चाहता है, तुम्हारे दर्शन हों तो गिर कर तुम्हारे पैरों को चूम लूँ। अब अधिक न तरसाओ। प्रतिक्षण सामने देखना चाहती हूँ। प्रायः सोते सोते चौंक पड़ती हूँ। सोचती हूँ, तुम्हारे खाने-पीने का क्या प्रबन्ध होता होगा? रात को अधिक समय तक

जागते तो नहीं रहते, स्वास्थ्य बिगड़ जायगा। इसका पूरा पूरा ध्यान रक्खो। मुझे पत्र लिखना न भूलो। जी डर जाता है। मुझे अपने चरणों की दासी समझो।"

चौथे दिन उत्तर आया तो मैं ज़मीन से उछल पड़ी। वे मेरे साथ विवाह करने को सहमत ही नहीं, प्रत्युत अधीर हो रहे थे। मैंने आँखें बन्द कर लीं, और आनेवाले काल्पनिक सहवास का चिन्तन करके आनन्द के झूले में झूलने लगी। इतने में किसी के पैरों की चाप सुनाई दी, मेरी आँखें खुल गईं। देखा, छोटा भाई प्रभाशङ्कर चित्रों का एक बण्डल लिये खड़ा है। मैंने आश्चर्य से पूछा, "प्रभा? यह क्या है?"

"बाबूजी कहते हैं, ये चित्र देख कर इनमें से एक छाँट दो। प्रत्येक चित्र के साथ साथ एक पत्र है, उसे भी पढ़ जाना।"

यह कहते कहते प्रभा ने वह बण्डल मेरे हाथ में दे दिया, और आप तेज़ी से बाहर निकल गया।

मैंने बण्डल खोला। इसमें उन पुरुषों के फ़ोटो थे जो मेरे साथ विवाह करना चाहते थे। मैंने मुस्कराते मुस्कराते सब पर एक उचटती हुई दृष्टि डाली। कोई बैरिस्टर था, कोई इञ्जीनियर, कोई डाक्टर था, कोई ठेकेदार। परन्तु मुझे कोई भी पसन्द न आया। मेरे अन्तःकरण में एक ही मूर्ति के लिए स्थान था, और वहाँ पहले ही से एक मूर्ति विराजमान थी। मैंने फुर्ती से उठ कर अपना सन्दूक़ खोला,

और उसमें से उनका फ़ोटो निकाल कर उस पर Passed शब्द लिख कर उसे बाबूजी के पास भेज दिया। वे दङ्ग रह गये। उन्हें यह आशा न थी। वे समझते थे, मैं किसी लखपती का बेटा पसन्द करूँगी, परन्तु मैंने एक कवि को चुना। वे निर्धन न थे, पर इतने धनाढ्य भी न थे। मेरे चाहनेवालों में कई पुरुष ऐसे थे, जो उनको ख़रीद सकने का सामर्थ्य रखते थे। परन्तु प्रेम को अन्धा कहा गया है, उसे देखना किसने सिखाया है? बाबूजी मेरी इच्छा के अनुसार सहमत हो गये। उन्होंने मुझे बड़े लाड़-प्यार से पाला था, मेरी शिक्षा पर सहस्रों रुपये ख़र्च किये थे। इस विषय में भी उन्होंने मुझे पूरी स्वतन्त्रता दे रक्खी थी।

(४)

जिस बात का भय था, अन्त में वही हुआ। उन्हें बुख़ार आने लगा है। कुछ दिन हुए, उनके एक मित्र मिलने आये थे। वे कहते हैं कि डाक्टरों को तपेदिक का सन्देह है। यह बात सुन कर बाबूजी बड़े व्याकुल हुए। सदा उदास रहते हैं, जैसे कोई रोग लग गया हो। उनकी इच्छा है कि मैं अब इस विवाह का विचार छोड़ दूँ। जलती आग में कूदना बुद्धिमत्ता नहीं है। परन्तु मैं इसकी परवा नहीं करती। संसार की आँखों में हम कुँवारे हैं, पर जब मन मिल गये, प्रेम की डोरी बँध गई, तो शेष क्या रह गया? अब मैं उनकी हूँ, और कोई रोग, कोई नियम,

कोई विचार मुझे उनसे अलग नहीं रख सकता। यहाँ तक कि मृत्यु को भी यह साहस नहीं। सावित्री ने सत्यवान् को यमदूत के पञ्जे से छुड़ा लिया था, क्या मैं उन्हें व्याधि के मुख से न बचा सकूँगी? मैं भी सावित्री हूँ। उसी भारत की मिट्टी से मेरा जन्म हुआ है, मैं उसके कारनामे को आज फिर ज़िन्दा कर दिखाऊँगी।

सायङ्काल होगया था, बाबू जी अपने कमरे में बैठे थे। मुझे चिन्ता हुई। यह समय उनके क्लब जाने का था। सर्दी-गर्मी में बराबर जाते थे। यह उनका नियम था, जिसमें कभी नागा न होता था। मैं उनके पास जाकर बैठ गई, और धीरे से बोली—क्यों, आज आप क्लब नहीं गये?"

बाबूजी ने कोई उत्तर न दिया।

"आप उदास दिखाई देते हैं।"

बाबूजी ने कहा—"तुम्हें इससे क्या?"

"आपका स्वास्थ्य बिगड़ जायगा।"

"कोई परवा नहीं।"

"आपका खाना आधा भी नहीं रहा।"

"मैं यह सब कुछ जानता हूँ।"

"किसी डाक्टर को दिखाइए, रोग का बढ़ना अच्छा नहीं।"

"अब मेरा डाक्टर यमराज ही होगा।"

मेरी आँखों में आँसू आ गये, सिर नीचे झुक गया। बाबूजी दूसरी ओर देख रहे थे, परन्तु मेरे आँसू उन्होंने देख लिये। बात-चीत का रङ्ग बदल गया, बोले—"सावित्री, मैं तो अपने भाग्य को रो रहा हूँ, पर तुम्हें क्या हुआ है ?"

मैंने उनकी ओर इस प्रकार देखा, जैसे उन्होंने मुझ पर कोई बड़ा अत्याचार किया हो, और कहा—"आप मेरे पिता हैं, क्या आप भी मेरे इन आँसुओं का रहस्य नहीं समझते ? आपकी हर एक बात छिपी कटार है, हर एक वचन विष में बुझा हुआ बाण। आपके मित्र हैं, सुहृद् हैं, काम-काज है, क्लब है। आप बाहर चले जाते हैं, मैं बैठी कर्मों को रोती हूँ। मैं लड़की हूँ, लड़कियों के मुँह से ऐसी बात अच्छी नहीं लगती। परन्तु क्या करूँ ? देखती हूँ, मेरे जीवन का सर्वस्व लुट रहा है। चुप कैसे रहूँ। आप देर करके मेरे भविष्य को अन्धकारमय बना रहे हैं।"

बाबूजी ने आतुर होकर कहा, "परन्तु सावित्री ! देख कर मक्खी निगलना आसान नहीं। क्या तुझे विश्वास है कि वह तेरी सेवा-शुश्रूषा से अच्छा हो जायगा।"

"हाँ, मुझे विश्वास है कि मैं उन्हें बचा लूँगी। कवि बेपरवा होते हैं, प्रायः पढ़ने-लिखने में लगे रहते हैं। मैं उन्हें जीवन के समस्त झंझटों से निश्चिन्त कर दूँगी और घर का सारा प्रबन्ध स्वयं सँभाल लूँगी। दिन-रात कविता लिखने के कारण ही उनकी यह दशा हुई है। जिस पत्रिका को

देखो उसी में उनकी कविता दिखाई देती है। मैं उनको इस काम से रोक दूँगी। कहूँगी, पहले अपने स्वास्थ्य की ओर तो देखो, पीछे कविता भी हो लेगी। नौकरों के हाथ की रोटियाँ खाते हैं, खाया-पिया क्या तन लगेगा? स्तुति करने को सभी हैं, सहानुभूति किसी में नाम को नहीं।"

बाबूजी पर मेरी इन बातों का बहुत ही प्रभाव हुआ। कुछ समय के लिए उनका मुँह बन्द हो गया। फिर बोले, "यह सब ठीक है, परन्तु कहने और करने में बड़ा भेद है। मुझे सन्देह है कि जो कुछ तुम कह रही हो उसे कर भी सकोगी या नहीं।"

मेरा मुख लाल हो गया, जैसे भरे बाज़ार में सिर से दुपट्टा उतर गया हो, फिर भी सँभल कर बोली—"मैं अपने वचनों के उत्तरदायित्व से अपरिचित नहीं। जो कुछ कहा है, करके दिखा दूँगी।"

"यह सब भावना की बातें हैं, समय पर धुएँ की नाईं उड़ जाती हैं।"

"मेरे विचार में ससार भावनाओं ही पर जीता है।"

बाबूजी चुप हो गये, कोई उत्तर न सूझा। थोड़ी देर सिर झुका कर सोचते रहे। फिर एकाएक उठे और मुझसे कुछ कहे सुने बिना बाहर चले गये।

(५)

विवाह हो गया। वह बात झूठ निकली। उन्हें कोई रोग न

था। यह सब किसी की शरारत थी। उनका स्वास्थ्य देखकर चित्त प्रफुल्लित हो जाता है। मुख पर लाली है, नेत्रों में ज्योति। मुझे देखते हैं तो कली की नाईं खिल जाते हैं। मैंने कई कवियों के चरित्र पढ़े हैं, और एक दोष सबमें देखा है। वह यह कि उनका आचरण कुछ इतना पवित्र नहीं होता। परन्तु उनके विषय में यह कल्पना करना भी पाप है। वह बहुत ही शर्मीले हैं, किसी पराई स्त्री के सामने आँख नहीं उठाते। वह इसे भी सदाचार से गिरा हुआ समझते हैं। मेरी कोई सहेली आ जाती तो उठ कर अन्दर चले जाते हैं। मैं बहुतेरा समझाती हूँ, कहती हूँ, तुम मर्द हो, यदि स्त्री पर्दा नहीं करती तो पुरुष क्यों करे। परन्तु वे हँस कर टाल देते हैं। मुझे उन पर पूरा पूरा विश्वास है। मैं समझती हूँ, सब कुछ हो सकता है, परन्तु उनके मन में मैल नहीं आसकता। ऐसा पुरुष मिल जाना मेरा सौभाग्य है। उन्होंने अपना आप मुझ पर छोड़ दिया है। घर-बार का स्याहसफ़ेद सब मेरे ही हाथ में है। कपड़े तक स्वयं नहीं बदलते। यदि मैं न कहूँ तो पूरा अठवाड़ा निकल जाता है और उन्हें ध्यान भी नहीं आता कि कपड़े मैले हो गये हैं। उनके दूध का, फलों का, कमरे की सफ़ाई का मुझे ही प्रबन्ध करना पड़ता है। सोचती हूँ, यदि मेरे स्थान पर कोई दूसरी बेपरवा मनमानी करनेवाली स्त्री आ जाती तो क्या होता। घर में धूल उड़ने लगती। थोड़े ही दिनों में बीमार हो जाते। उन्हें अपने दफ़्तर की सफ़ाई का भी

ध्यान नहीं। उसका भी मुझे ही ध्यान रखना पड़ता है। नौकर सिर चढ़ा रक्खे थे, पर अब भँभल गये हैं। ये निगोड़े आपसे आप तो कोई काम करते ही नहीं। जब तक सिर पर न खड़े रहो तब तक हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते हैं। कभी कभी मुझे उन पर क्रोध भी आ जाता है। वे क्यों दबदबे से काम नहीं लेते। मैं चार दिन के लिए बाहर चली जाऊँ तो घर में कीड़े रेंगने लगें।

एक दिन मैंने कहा—"सारे भारतवर्ष में तुम्हारी कविता की धाक बँधी हुई है, परन्तु क्या यह भी किसी को पता है कि तुम इतने बेपरवा, ऐसे आलसी हो?"

उन्होंने हँस कर उत्तर दिया—"तुम एक लेख न लिख दो।"

"बदनाम हो जाओगे।"

"उसमें से कुछ भाग तुम्हें भी तो मिलेगा।"

"मैं क्यों लेने लगूँगी। तुम हँस कर टाल देते हो। ज़रा सोचो तो सही, ऐसी बेपरवाई भी किस काम की?"

"मैंने तुम्हें घर की रानी बना दिया।"

मैंने धीरे से कहा—"घर की रानी तो मैं बनी, परन्तु तुम अपने दफ़्तर की ओर तो ध्यान दिया करो।"

"मैं तुम्हें अपना सुपरिन्टेन्डेन्ट समझता हूँ।"

मैं रूठ कर चली गई। परन्तु हृदय आनन्द के हिलोरे ले रहा था, जिस प्रकार चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल पर नाचता

है। दूसरे दिन प्रातःकाल मैं उनके दफ़्तर की ओर गई तो दरवाज़े के साथ एक छोटा सा बोर्ड लटकता देखा। उस पर लिखा था—

सावित्री देवी, बी० ए०, सुपरिन्टेन्डेन्ट

मैंने उसे जल्दी से उतार कर उनके सामने जा फेंका, और कहा, "ये शरारतें देखकर लोग क्या कहेंगे।

उन्होंने मेरी ओर देखा और मुस्करा कर भुजायें फैला दीं।

(६)

सन्ध्या का समय था। मैंने अपनी सबसे बढ़िया पोशाक पहनी और उनके पास जाकर कहा—"बाहर चलोगे, थोड़ा घूम आयें।"

वे उस समय कविता में मग्न थे, धीरे से बोले, "इस समय बात न करो। बड़ा विचित्र विचार सूझा है, उसको प्रकट करने के लिए शब्द ढूँढ़ रहा हूँ।"

मुझे विष सा चढ़ गया। कैसे पुरुष हैं, सदा अपनी ही धुन में मग्न रहते हैं। इतना भी नहीं होता कि मेरी किसी समय तो मान लिया करें। पहले मुझे देख कर प्रसन्न हो जाते थे, परन्तु अब तो ऐसा प्रतीत होता है, जैसे इनका हृदय प्रेम से शून्य हो गया है। हाँ, कविता में हृदय निकाल कर रख देते हैं। मेरी आँखों से आग बरसने लगी, मुँह से बोली—"सदा कविता ही सूझती रहती है या किसी समय संसार का भी ध्यान आता है?"

"इस कविता से साहित्य-संसार में शोर मच जायगा।"

"तुम्हें मेरा भी ध्यान है या नहीं।"

"यह अपने हृदय से पूछो।"

"मैं हृदय से नहीं पूछती, स्वयं तुमसे पूछती हूँ। ज़रा आँखें उठा कर उत्तर दो न।"

"यह कविता देख कर फड़क उठेगी। ऐसी कविता मैंने आज तक नहीं लिखी।"

मैंने हताश सी होकर कहा—"मेरी बड़ी इच्छा थी कि आज थोड़ा घूम आती, इस कविता ने काम बिगाड़ दिया। जी चाहता है, काग़ज़ छीन कर दवात तोड़ दूँ।"

"दवात काग़ज़ की हानि साधारण बात है, परन्तु ये विचार फिर न मिलेंगे। आज अकेली चली जाओ।"

"मेरा मन नहीं मानता।"

उन्होंने हाथ से इशारा किया और फिर काग़ज़ पर झुक गये। मेरे हृदय में बर्छी सी लगी। उन्हें कविता का ध्यान है, मेरा नहीं। संसार में नाम चाहते हैं, परन्तु घर में प्रेम नहीं चाहते। यहाँ से चली तो हृदय पर बोझ सा प्रतीत हुआ। अकेली सैर को निकल गई, परन्तु चित्त उदास था, सैर में जी न लगा। हार कर एक पुल पर बैठ गई, और अपनी दशा पर रोने लगी। इन आँसुओं को देख कर पहले बाबूजी व्याकुल हो जाते थे। विवाह हुआ तो मेरे सुख-दुख का भार एक कवि को सौंपा गया। परन्तु अब इन आँसुओं को देखने-

वाला, इन पर कलेजा मलनेवाला कोई न था। मुझे ऐसा प्रतीत होता था, जैसे मेरी नाव नदी के धार में वेग से बही जाती है और उस पर कोई मल्लाह नहीं है। मैं अपनी बेबसी पर कुढ़ती थी। कभी कभी आँख उठा कर देख भी लेती थी कि कदाचित् आ रहे हों। प्रेम जल्दी निराश नहीं होता।

मेरी आँखें जल की ओर थीं। सोचती थी, यदि कोई शक्ति मन्त्र-बल से मुझे जल की लहर बना दे तो गङ्गा की लहरों में खेलती फिरूँ। एकाएक आँखें झपक गईं, निद्रादेवी ने इच्छा पूरी कर दी। मैं गङ्गा में गिर गई। बहुतेरे हाथ-पाँव मारे, पर निकल न सकी। प्रवाह में बहने लगी।

सुध आई, तो मैं घर पर थी। वे सामने खड़े थे, कुर्सी पर एक डाक्टर बैठा था।

उन्होंने कहा—"अच्छी बची, इनका धन्यवाद करो। ये मेरे मित्र डाक्टर मणिराम हैं। आज-कल काशी में इनके नाम की पूजा होती है। नदी में न कूद पड़ते तो तुम्हारा बचाना असम्भव था।"

मैं धीरे से उठ कर बैठ गई। साड़ी को सिर पर कर लिया और डाक्टर साहब की ओर देखा, मगर आँखें मिल न सकीं। मैंने—"परमात्मा आपका भला करे" कहा और आँखें झुका लीं। परन्तु हृदय में हलचल मची हुई थी। चाहती थी, ये उठ कर चले जायँ। मेरा विचार था, इससे मेरा धीरज वापस आ जायगा। परन्तु जब वे चले गये तो

जाना पड़ा, मैं भूल पर थी। व्याकुलता बढ़ गई। पानी की सैर को गई थी, आग ख़रीद लाई।

(७)

मणिराम—

रात हुई, परन्तु मेरी आँखों में नींद न थी। उसे सावित्री की आँखों ने चुरा लिया था। उनमें कैसा आकर्षण था, कैसी बेबसी! जैसे कोई क़ैदी लोहे के जँगले के अन्दर से स्वतन्त्र सृष्टि को देखता है और आह मार कर पृथ्वी पर बैठ जाता है। उसकी आँखें बार बार मेरी ओर उठती थीं, परन्तु वह उन्हें उठने न देती थी, जिस प्रकार माँ अपने अबोध बालक को पराये खिलौने पकड़ते देख कर गोद में उठा लेती है। उस समय बालक किस प्रकार मचलता है! कैसा अधीर होता है! चाहता है, कि माँ छोड़ दे तो खिलौना लेकर भाग जाए। यही दशा सावित्री की थी। सत्यवान वहीं डटा रहा। यदि दो मिनट के लिए भी टल जाता तो जी भर कर देख लेता। कैसी सुन्दर है, जैसे चम्पा का फूल।

दूसरे दिन दूकान को जा रहा था तो उसे दरवाजे पर खड़ा पाया। उसने मेरी ओर प्यासे नयनों से देखा और मुस्करा दिया। इस मुस्कराहट में बिजली थी, मेरा धैर्य छूट गया। दूकान पर जी न लगा, सारा दिन साँझ की प्रतीक्षा करता रहा। पल पल गिनते दिन समाप्त हुआ और मैं घर को

वापस लौटा। पैर भूमि पर न पड़ते थे। इस समय मैं ऐसा प्रसन्न था, जैसे किसी को कुछ मिलनेवाला हो। सत्यवान के मकान के पास पहुँचा तो पैर आप से आप रुक गये, आँखें दरवाज़े पर जम गईं। सहसा वह अन्दर से निकली और दरवाज़े के साथ लग कर खड़ी हो गई। उसने मुँह से कुछ न कहा, परन्तु आँखों ने हृदय के पर्दे खोल दिये। इन आँखों में कैसा प्रेम था, कैसा कटाक्ष और उनके साथ स्त्रियों की स्वाभाविक लज्जा। चटनी में खटाई के साथ शक्कर मिली हुई थी। मैं मतवाला सा हो गया और झूमता झामता घर पहुँचा, जैसे किसी ने शत्रु का दुर्ग जीत लिया हो।

कई दिन बीत गये। नयनों का प्रेम दृढ़ होता गया। पर अब उसे देख कर जी न भरता था; ओस की बूँदों से किसी की प्यास कब बुझी है? तृष्णा अपने पैर आगे बढ़ा रही थी। अन्तःकरण सावधान करता था, जैसे भय के समय कोई लाल झंडी दिखा दे। परन्तु कामदेव उस ड्राइवर के समान परवा न करता था जिसने शराब पी ली हो। यह शराब साधारण शराब न थी। यह वह शराब थी जो धर्म-कर्म सब चूल्हे में झोंक देती है और मनुष्य को बलात् भय के मुँह में डाल देती है। यह कामवासना की शराब थी।

एक दिन बहुत रात गये घर लौटा। चित्त दुखी हो रहा था, जैसे कोई भारी हानि हो गई हो। परन्तु सावित्री दरवाज़े पर ही खड़ी थी। मैं गद्गद प्रसन्न हो गया, मेरा घाटा पूरा

हो गया था। सारा क्रोध और दुख दूर हो गया। सावित्री ने कहा, "आज आपको बड़ी देर हो गई।"

परन्तु आवाज़ थरथरा रही थी।

मेरा कलेजा धड़कने लगा। शरीर पसीना पसीना हो गया। छात्रावस्था में हमने सैकड़ों मुर्दे चीरे थे। उस समय भी यह अवस्था कभी न हुई थी। एक एक अङ्ग काँपने लगा। मैंने बड़ी कठिनाई से अपने आपको सँभाला और उत्तर दिया—"जी हाँ, कुछ मरीज़ देखने चला गया था। आप दरवाज़े पर खड़ी हैं, क्या किसी की प्रतीक्षा है?"

"हाँ, उनकी राह देख रही हूँ।"

"क्या आज कोई कवि-सम्मेलन है?"

"कवि-सम्मेलन तो नहीं। एक जलसे में गये हैं, वहाँ उन्हें अपनी नवीन कविता पढ़ना है।"

"तो बारह बजे से पहले न लौटेंगे।"

सावित्री ने सतृष्ण नयनों से मेरी ओर देखा, और एक मधुर कटाक्ष से ठण्ढी साँस भर कहा—"घर में जी नहीं लगता।"

"अभी तो आठ ही बजे हैं।"

"जी चाहता है, घड़ी की सुइयाँ घुमा दूँ।"

मेरे पैर न उठते थे। ऐसा प्रतीत होता था, मानो कोई सुमधुर नाटक हो रहा है। परन्तु कोई देख न ले, इस विचार से पैर उठाने पड़े। हमें धर्म का विचार हो या न हो,

परन्तु निन्दा का भय अवश्य होता है। सावित्री ने मेरी ओर ऐसी आँखों से देखा, मानो कह रही है, "क्या तुम अब भी नहीं समझे।"

मैं आगे बढ़ा, परन्तु हृदय पीछे छूटा जाता था। वह मेरे बस में न था। घर जाकर चित्त उदास हो गया। सावित्री की मूर्त्ति आँखों में फिरने लगी। उसकी मधुर वाणी कानों में गूँजने लगी। मैं उसे भूल जाना चाहता था। मुझे डर था कि इस कूचे में पैर रखकर मैं बदनाम हो जाऊँगा। मुझ पर उँगलियाँ उठने लगेंगी। लोग मुझे भलामानस समझते हैं। यह करतूत मेरा सर्वनाश कर देगी। लोग चौंक उठेंगे। कहेंगे, कैसा भलामानस प्रतीत होता था, परन्तु पूरा गुरु-घण्टाल निकला। प्रेक्टिस भी कम हो जायगी। वह विवाहिता स्त्री है। उसकी ओर मेरा हाथ बढ़ाना बहुत ही अनुचित है। परन्तु ये सब युक्तियाँ, सब विचार जल के बुदबुदे थीं। जितनी जल्दी बनते हैं उससे जल्दी टूट जाते हैं। वायु का हल्का सा थपेड़ा उनका चिह्न तक मिटा देता है। मनुष्य कितना दुर्बल, कितना बेबस है!

दूसरे दिन मैं सत्यवान के घर पहुँचा। परन्तु पैर लड़खड़ा रहे थे, जैसे नया नया चोर चोरी करने जा रहा हो। उस समय उसका हृदय किस प्रकार धड़कता है! कहीं कोई देख न ले, मुँह का रङ्ग भेद न खोल दे। कभी कभी भलमंसी का विचार भी आ जाता था। पैर आगे

रखता था, हृदय पीछे हट जाता था। एकाएक मैंने एक फलाँग भरी और अन्दर चला गया। इस समय मेरे होंठ सूख रहे थे।

सत्यवान ने मुझे देखा तो कुर्सी से उछल पड़ा और बड़े प्रेम से मिला। देर तक बातें होती रहीं। सावित्री भी पास बैठी थी। मेरी आँखें बराबर उसके मुख पर लगी रहीं। पहले चोर था, अब डाकू बना। सावित्री की झिझक भी दूर हो गई। वह बात बात पर हँसती थी। अब उसे मेरी ओर देखने में सङ्कोच न था। लज्जा के स्थान पर चपलता आ गई थी। यहाँ से चला तो ऐसा प्रसन्न था, जैसे इन्द्र का सिंहासन मिल गया हो। तत्पश्चात् रास्ता खुल गया। दिन में कई बार सावित्री के दर्शन होने लगे। रात को दो दो घण्टे उसके पास बैठा रहता। मेरा और सावित्री का आँखों आँखों ही में मन मिल गया। पर सत्यवान को कुछ पता न था। कल्पना-सागर से विचारों के मोती निकालनेवाला कवि, बहुत दूर तक दृष्टि दौड़ानेवाले क्रान्तिदर्शी विद्वान अपने सामने की घटना को नहीं समझता था। उसकी कविता दूसरों को जगाती थी, परन्तु वह स्वयं सोया हुआ था। उस अनजान यात्री के समान जो नौका में बैठा दूर के हरे हरे खेतों और ऊँची ऊँची पहाड़ियों को देख देख कर झूमता है, परन्तु नहीं जानता कि उसकी अपनी नाव भयानक चट्टान के निकट पहुँच रही है; सत्यवान धीरे धीरे विनाश की ओर बढ़ रहा था।

(८)

सावित्री—

कितना अन्तर है। मणिराम की आँखें हृदय में आग लगा देती थीं। निकट आते तो मैं इस प्रकार खिँची जाती, जैसे चुम्बक लोहे की सुई को खींच लेता है। कैसा भोला-भाला लगता था, जैसे मुख में जीभ न होगी। परन्तु मेरे पास आकर इस प्रकार चहचहाता है, जैसे बुलबुल फूल की टहनी पर चहचहाता है। उनके बिना अब जी नहीं लगता था। मकान काटने को दौड़ता था। चाहती थी मेरे पास ही बैठे रहें। किसी ने मुँह से नहीं कहा, परन्तु आँखों से पता चला कि महल्ले की स्त्रियाँ सब कुछ समझ गई हैं। मेरी ओर देखतीं तो मुस्कराने लगतीं। इतना ही नहीं, अब वह भी अपने विचारों से चौंक उठे। कवि थे, कुछ मूर्ख नहीं। बेपरवा थे, पर बेसमझ न थे। अब हाथ मलमल कर पछताने लगे। संसार जीतते थे, घर गवाँ बैठे। अब सदा उदासीन रहते थे। रात को सो नहीं सकते थे। बात करती तो काटने को दौड़ते। आँखों में लहू उतर आता था। न खाने की ओर ध्यान था, न पीने की ओर। कई कई दिन स्नान न करते थे। अब मुझे उनके कपड़े बदलवाने का शौक़ न था, न उनके खाने-पीने का प्रबन्ध करती थी। कभी इन बातों में आनन्द आता था, अब इनसे जी घबराने लगा। कुछ दिन पश्चात् प्रयाग के प्रसिद्ध मासिक

पत्र "सरस्वती" में उनकी एक कविता प्रकाशित हुई। जिसका पहला पद था—

भयो क्यों अनचाहत मों मङ्ग।

कविता क्या थी, उनकी अपनी अवस्था का चित्र था। मेरी आँखों से आग बरसने लगी। शेरनी की नाईं बिफरी हुई उनके सामने चली गई, और बोली—"यह क्या कविता लिखने लगे हो अब ?"

उन्होंने मेरी ओर ऐसी आँखों से देखा, जो पत्थर को भी मोम कर देतीं, शोक और निराशा का पूरा नमूना थीं। धीरे से बोले—"क्या है ?"

"यह कविता पढ़ कर लोग क्या कहेंगे।"

"कवि जो कुछ देखता है, लिख देता है। इसमें मेरा दोष क्या है ?"

मैंने ज़रा पीछे हट कर कहा—"तुमने क्या देखा है ?"

"सावित्री ! मेरा मुँह न खुलवाओ। अपने अञ्चल में मुँह डाल कर देख लो। मुझसे कुछ छिपा नहीं।"

मैंने क्रोध से कहा, गालियाँ क्यों देते हो ?

"गालियाँ इससे लाख गुना अच्छी होतीं।"

"तो तुम्हें मुझ पर सन्देह है।"

"सन्देह होता तो रोना काहे का था ? अबतो विश्वास हो चुका। कान धोखा खा सकते हैं, परन्तु आँखें धोखा नहीं खातीं। मुझे यह पता न था कि मेरा घर इस प्रकार चौपट हो जायगा।"

मुझ पर घड़ों पानी पड़ गया। पर प्रकृति, जहाँ दुराचार का जाना होता है वहाँ, निर्लज्जता को पहले भेज देती है। ढिठाई से बोली—"तुम कविता लिखो, तुम्हें किसी से क्या ?"

"घावों पर नमक छिड़कने आई हो।"

"मेरी ओर देखते ही न थे। उस समय बुद्धि कहाँ चली गई थी।"

"मैंने तुम्हें पहचाना नहीं था। नहीं तो आज हाथ न मलता।"

"परन्तु लोग तो तुम्हें वाहवा कह रहे हैं। जिस पत्र में देखो, तुम्हारी ही चर्चा है, पढ़ कर प्रसन्न हो जाते होगे।"

यह सुन कर वे खड़े हो गये। इस समय उनकी आँखों में पागलों की सी लाली चमक रही थी। चिल्ला कर बोले, "अपनी मौत को न बुलाओ, मैं इस समय पागल हो रहा हूँ।"

"तो क्या मार डालोगे। बहुत अच्छा, यह भी कर डालो। अपने जी की इच्छा पूरी कर लो।"

उन्होंने एक बार मेरी ओर देखा, जिस प्रकार सिंह अपने आखेट को मारने से पहले देखता है, और झपट कर अलमारी की ओर बढ़े। मेरा कलेजा धड़कने लगा, दौड़ कर बाहर निकल गई। मेरा विचार था, वे मेरे पीछे दौड़ेंगे, इसलिए घर के सामने मैदान में जा खड़ी हुई। इस समय मेरी साँस फूली हुई थी, मृत्यु को सामने देख चुकी थी। परन्तु वे

बाहर न आयें। थोड़ा देर पीछे दन का शब्द सुनाई दिया। मैं दौड़ती हुई अन्दर चली गई। देखा, वे फ़र्श पर पड़े तड़प रहे थे। मृत्यु का दृश्य देख कर मैं डर गई। परन्तु मुझे दुःख नहीं हुआ। कहीं मुक़द्दमे की लपेट में न आ जाऊँ, यह चिन्ता अवश्य हुई।

दो मास बीत गये। मैं अपने आँगन में बैठी मणिराम के लिए नेकटाई बुन रही थी। मैंने लोकाचार की परवा न करके उनसे विवाह का निश्चय कर लिया था। लोग इस समाचार से चौंक उठे थे। परन्तु मैं उनके मरने से प्रसन्न हो रही थी। समझती थी, जीवन का आनन्द अब आयगा। अचानक नौकर ने आकर डाक मेरे सामने रख दी। इसमें एक पैकट भी था। मैंने पहले उसे खोला। यह मेरे मृतक पति की कविताओं का सङ्ग्रह था। मैंने एक दो कवितायें पढ़ीं। हृदय में हलचल मच गई। कैसे ऊँचे विचार थे, कैसे पवित्र भाव, संसार की मलिनता से रहित। इनमें छल न था, कपट न था। इनमें आध्यात्मिक सुख था, शान्ति थी, माधुरी थी। मेरी आँखों से आँसू बहने लगे। एका-एक तीसरे पृष्ठ पर दृष्टि गई। यह समर्पण का पृष्ठ था। मेरा लहू जम गया। पुस्तक मेरे नाम समर्पित की गई थी। एक एक शब्द से प्रेम की लपटें आ रही थीं। परन्तु इस प्रेम और मणिराम के प्रेम में कितना अन्तर था। एक चन्द्रमा की चाँदनी के समान शीतल था, दूसरा अग्नि के समान दग्ध

करनेवाला। एक समुद्र की नाईं गहन-गम्भीर, दूसरा पहाड़ी नाले के समान वेगवान। एक सचाई था परन्तु निश्शब्द, दूसरा झूठा था पर बड़बोला। मेरी आँखों के सामने से पर्दा उठ गया। सतीत्व के उच्च शिखर से कहाँ गिरने को थी, यह मैंने आज अनुभव किया। उठते हुए पैर रुक गये। मैंने पुस्तक को आँखों से लगा लिया और रोने लगी।

इतने में मणिराम अन्दर आये। मुख आनेवाले आनन्द की कल्पना से लाल हो रहा था। उनके हाथ में एक बहुमूल्य माला थी, जो उन्होंने मेरे लिए बम्बई से मँगवाई थी। वह दिखाने आये थे। मुझे रोते देख कर ठिठक गये और बोले—"क्यों रो रही हो?"

"मेरी आँखें खुल गई हैं।"

"यह अपनी माला देख लो। कल विवाह है।"

"अब विवाह न होगा।"

"सावित्री, पागल हो गई हो?"

"परमात्मा मुझे इसी प्रकार पागल बनाये रक्खे।"

मणिराम आगे बढ़ा। परन्तु मैं उठ कर पीछे हट गई, और दरवाज़े की ओर इशारा करके बोली—"उधर।"

उस रात मुझे ऐसी नींद आई, जैसी इससे पहले कभी न आई थी। मैंने पति को ठुकरा दिया था, परन्तु उसके प्रेम को न ठुकरा सकी। मनुष्य मर जाता है, उसका प्रेम जीता रहता है।

काल-चक्र ।

(१)

बहादुरशाह मुग़ल-वंश के बुझते हुए दीपक थे। कुछ लोगों का विचार है कि वे नाम-मात्र के बादशाह थे। उनका आधा समय ईश्वरभक्ति में कटता था, आधा ग़ज़लें कहने में। राष्ट्रीय विषयों में उनका रत्ती भर भी लगाव न था। वे इसको समय-यापन समझते थे। उनका दरबार राज-दरबार नहीं, प्रत्युत कवि-दरबार था, जिसमें उनकी ग़ज़लों के पद पद पर 'सुबहान अल्लाह' और 'जज़ाक अल्लाह' की ध्वनि उठती थी। इन जी-बहलावों से जो समय बचता था उसे वे बालकों और विशेषत: अपनी पोती नर्गिस नज़र के साथ बिताते थे। इस खेल में उन्हें आत्म-सुख प्राप्त होता था। वे प्राय: कहा करते थे कि बच्चों की दुनिया में जाकर मेरा मन लोट-पोट हो जाता है। उनका भोलापन, उनकी चञ्चलता, उनकी सरलता को देख कर वे आनन्द में मतवाले हो जाते थे। नर्गिस नज़र को वे शाही महल की मैना कहा करते थे। वह उनके पुत्र की पुत्री एक दासी के पेट से थी, तो भी वे जब तक उसे न देख लेते, उन्हें चैन न आता था। यहाँ तक कि उन्होंने आज्ञा दे रक्खी थी कि जब तक नर्गिस नज़र न आ जाय तब तक दस्तर्ख़ान न

चुना जाय। इस आज्ञा का पूर्णरूप से पालन किया जाता था। एक बार नर्गिस नज़र के बीमार होने पर बहादुरशाह दो रातें उसके सिरहाने बैठे रहे थे। उन दिनों शाही महल में इस प्रकार भय छाया हुआ था मानो किसी राजा ने धावा बोल दिया हो।

(२)

जब सन् १८५७ का राज-विप्लव हुआ तो विद्रोही सेना ने नर्गिस नज़र के पिता मीरज़ा मुग़ल को अपना सेनापति बना लिया और उनके नाम पर मनमानी कार्य्यवाही करने लगे। मीर मीरज़ा मुग़ल यह देखते थे और कुढ़ते थे। उनकी इच्छा न थी कि यह हत्याकाण्ड हो। वे स्वभावतः इसके विरुद्ध थे। परन्तु सेनापति होने पर भी कोई उनकी सम्मति की परवा न करता था। विद्रोही सेना इस प्रकार दौड़ती फिरती थी जैसे भूखे भेड़िये फिरते हैं। मीरज़ा मुग़ल ने उनको कई बार समझाने का यत्न किया, परन्तु सफल न हुए। वे सोचते, यह हो क्या रहा है? एक ओर तो मुझे सेनापति कह रहे हैं, मेरे नाम पर अँगरेजों की हत्या कर रहे हैं, दूसरी ओर मेरे कहने पर कान नहीं देते। क़ानून की दृष्टि में इस हत्या-काण्ड का उत्तरदायित्व मुझ पर है, यद्यपि सच्ची बात यह है कि मेरा इससे ज़रा भी सम्बन्ध नहीं।

एक दिन मीरज़ा मुग़ल लाल क़िले में अपने महल की छत पर खड़े थे कि दीवान ख़ास के सामने विद्रोही सैनिकों

ने कई अँगरेज़ पुरुषों, स्त्रियों और बालकों का वध किया। इस समय नर्गिस नज़र की आयु आठ बरस की थी। इस भयानक रक्तपात को देख कर वह रोती हुई पिता की टाँगों से चिमट गई और बोली, "उनको बचा लो।"

मीरज़ा मुग़ल पहले ही क्षुब्ध हो रहे थे, बेटी की प्रार्थना सुन कर और भी पिघल गये। उनकी आँखों में आँसू आ गये। भर्राये हुए स्वर से बोले, "बेटी! मैं क्या करूँ। वे मेरा कहा नहीं मानते।"

नर्गिस नज़र की प्रकृति को दादा के लाड़-प्यार ने बिगाड़ दिया था। वह समझती थी कि जिस प्रकार महल में प्रत्येक मनुष्य मेरी आज्ञा मानता है, इसी प्रकार ये विद्रोही डाकू भी मेरी आज्ञा पर तलवारें झुका लेंगे। उसने अधीर होकर कहा, "उन्हें मेरी तर्फ़ से कह दो, अब किसी को न मारें। नहीं मैं ख़फ़ा हो जाऊँगी।"

इस भोलेपन से मौलवी अमीनउल्ला को, जो नर्गिस नज़र के उस्ताद (गुरु) थे, हिम्मत हुई। वे साहस करके आगे बढ़े और बोले, "जनाब! वे आपको अपना कमानदार कहते हैं?"

मीरज़ा मुग़ल ने उत्तर दिया, "यह तो दुरुस्त है।"

"तो आप उन्हें रोकते क्यों नहीं। ज़रा सोचिए, औरतों के सामने बच्चों को क़त्ल किया जा रहा है। उनकी फ़रियाद मुग़ल-हुकूमत के कँगूरे हिला देगी।"

मीरज़ा मुग़ल के नेत्रों से आँसू बहने लगे।

अमीनउल्ला ने अपने कथन को जारी रखते हुए कहा, "आपका ख़याल ठीक नहीं कि वह आपका कहा न मानेंगे आप ज़रा हुक्म तो दें।"

मीरज़ा मुग़ल ने रोते रोते उत्तर दिया, "वे नहीं मानेंगे।"

"तो फिर मैं जाऊँ?"

"कहाँ?"

"बाग़ी लोगों को समझा कर देखूँ। शायद मान ही जायँ।"

मीरज़ा मुग़ल ने घबरा कर कहा, "नहीं ऐसा नहीं हो सकता।"

"क्यों?"

"वहाँ ख़तरा है।"

"मैं इसके लिए भी तैयार हूँ।"

"वे आपको मार डालेंगे।"

मौलवी साहब ने छाती तान कर उत्तर दिया, "मुझे इसकी भी परवा नहीं।"

यह कह कर उन्होंने नर्गिस नज़र को प्यार किया, मीरज़ा मुग़ल से बग़लगीर हुए और दीवान ख़ास के मैदान की ओर चले। परन्तु सीढ़ियों से भी न उतरने पाये थे कि सहसा शोर मचा। बाद में पता लगा कि मौलवी साहब मारे गये।

नर्गिस नज़र रोने लगी।

(३)

रात्रि का समय था। लाल क़िले में उदासी छाई हुई थी। यही स्थान था, जहाँ इस समय कपूर के दीपक जला करते थे और जहाँ दास-दासियों के कोलाहल से कान पड़ा शब्द सुनाई न देता था। परन्तु आज वहाँ सुनसान अन्धकार का राज्य था। इतने में दरवाज़े से एक बैलगाड़ी निकली। उसमें नर्गिस नज़र, उसकी माँ और एक पुरुष सवार थे। देहली को उसी दिन अँगरेज़ों ने जीत लिया था। बहादुरशाह हुमायूँ के मक़बरे में गिरिफ़्तार हो गये थे और मीरज़ा मुग़ल अपनी जान छिपाते फिरते थे। नर्गिस नज़र की माँ ने अन्तिम बार क़िले की ओर देखा और ठण्डी साँस भर कर गाड़ीवान से कहा, "चल भाई ले चल"। कैसा हृदय-वेधक दृश्य था, कैसी तड़पानेवाली घटना? वही नर्गिस नज़र और उसकी माँ, जो मख़मल पर सोती थीं, फूलों पर चहकती थीं, रविशों पर टहलती थीं, इस समय अपने प्राण बचाने के लिए अँधेरी रात में भागी जा रही थीं। वे ऐश्वर्य्य के दिन थे, उस समय ईर्ष्या स्वयं उनसे ईर्ष्या करती थी। आज समय ने पाँसा पलट दिया था। इस समय दुर्भाग्य भी उनके लिए रो रहा था।

परन्तु इस दुर्भाग्य की भी किसे परवा थी। विचार यह था कि जैसे हो, इस जलती आग से निकल चलें, अन्यथा कुशल नहीं। गाड़ी किसी अभागे के भाग्य की

तरह ठोकरें खाती हुई रवाना हुई। रोशनी होती तो भागना कठिन हो जाता, परन्तु कभी कभी प्रकृति अभागों की सहायता करती है। इस समय भी ऐसा ही हुआ। परन्तु अभी छत्रपुर के निकट ही पहुँचे थे कि आकाश में चन्द्रमा ने सिर ऊँचा किया। अभागा यात्री-समूह अँधेरा ढूँढ़ने लगा। पर सारे संसार का अन्धकार तो उनके हृदय में इकट्ठा हो चुका था, उसका बाहर कैसे पता लगता। नर्गिस नज़र की माँ घबरा गई। उसने मन ही मन सैकड़ों मिन्नतें मानीं। परमात्मा से प्रार्थना की। पीरों को भेंट देना स्वीकार किया। परन्तु होनहार को कौन टाल सकता है?

एकाएक दूर से धूल उड़ती दिखाई दी। गाड़ीवान का कलेजा धड़कने लगा। सन्देह ने कहा कि विपत्ति सिर पर मँडरा रही है, तैयारी कर लो। साथ ही यह ख़याल आया कि सम्भव है, अपने ही आदमी हों। आशा अन्तिम श्वास तक साथ नहीं छोड़ती। कुछ देर यही अवस्था रही, यहाँ तक कि वह दल निकट आ गया। कुदरतख़ाँ का कलेजा हिल गया। ये लोग विद्रोही सेना के सिपाही थे, जो हताश होकर चीते से अधिक तुन्द और काले नाग से अधिक भयङ्कर हो गये थे।

कुदरतख़ाँ ने गाड़ीवान से कहा, 'गाड़ी रोक लो,' और तलवार लेकर खड़े हो गये। परन्तु हाथ-पाँव काँप रहे थे। स्त्रियाँ रोने लगीं। गाड़ीवाले का लहू सूख गया। सिपाही

निकट आगये। उनके हाथों में भाले थे, नेत्रों में निठुरता। आते ही बोले, "जो कुछ पास है, खोल कर रख दो, नहीं तो सबको मार देंगे।"

कुदरतख़ाँ ने कहा, "भाइयो! तुम हमारे अपने आदमी हो। तुम्हें सोचना चाहिए, कभी तुम हमारी आँखों के इशारे देखा करते थे। आज क़िस्मत ने मुँह फेर लिया है तो तुम भी धमकियाँ देते हो। यह बात किसी मज़हब में मुनासिब नहीं।"

एक सिपाही ने उत्तर दिया, "तुम्हीं ने तो चुगलियाँ खाकर हमें हरवाया है, नहीं तो हम इस समय जङ्गलों में सिर न छिपाते फिरते।"

"तेः .ख़ुदा से डरो। इस गाड़ी में शाही हरम की एक ख़ातून है। उनकी इज़्ज़त करना जैसा मेरा फ़र्ज़ है, वैसा ही तुम्हारा भी है।"

एक दूसरे सिपाही ने बिगड़ कर कहा, "मारो साले को, बातें बनाता है।"

अवकाश भय के दूर करने की सबसे अच्छी दवा है। कुदरतख़ाँ के लिए यह अवकाश अमृत हो गया। उसका भय जाता रहा, राज-भक्ति का भाव नस नस में जागृत हो उठा। नेत्र चमकने लगे। तलवार निकाल कर निर्भयता से बोले, "सँभल कर बात करो। मैं इनके लिए अपना सिर दे दूँगा।"

सिपाही एक तो निराश, दूसरे संख्या में अधिक, इस बात को सह न सके, बिगड़े हुए भेड़ियों की नाईं कुदरतख़ाँ पर टूट पड़े। कुदरतख़ाँ ने यथाशक्ति सामना किया, परन्तु शीघ्र ही मारे गये। इनकी यह गति देख कर गाड़ीवान गाड़ी छोड़ कर भाग गया।

घना जङ्गल था, रात्रि का समय। इन नर-पिशाचों ने नर्गिस नज़र और उसकी माँ दोनों के पास जो कुछ था, रखवा लिया। इतना ही नहीं, उनके तन के वस्त्र तक भी उतरवा लिये और चलने लगे। माँ-बेटी की चीख़ें निकल गईं। उन्हें रोता देख कर इन पिशाचों का हृदय भी पिघल उठा। सुतरां एक ने नर्गिस नज़र को अपने घोड़े पर बिठा लिया। उसका हृदय इस समय प्रेम का स्रोत बना हुआ था। दूसरे ने नर्गिस नज़र की माँ का हाथ पकड़ लिया, उसके हृदय पर सौन्दर्य ने अपनी मोहिनी डाल दी थी। नर्गिस नज़र और उसकी माँ के रस्ते अलग अलग हो गये।

(४)

दूसरे दिन नर्गिस नज़र सोहाना पहुँची। ज़िला गुड़गाँव में यह एक छोटा सा क़स्बा है। वह सवार वहीं का रहने-वाला था, जिसकी प्रेम-भरी गोद में भाग्य ने नर्गिस नज़र को ला फेंका था। वह जाति का घसियारा था। उसके यहाँ कोई सन्तान न थी। इस अमूल्य रत्न के लिए उसने

सैकड़ों यत्न किये, परन्तु कोई लाभ न हुआ। ओषधियाँ खाईं, गंडे-तावीज़ पहने, धूनियाँ रमाईं, साधुओं की सेवा की। अपनी आयु के कई वर्ष इसी फेर में व्यतीत कर दिये, परन्तु आशा पूरी न हुई। शून्य घर उसी प्रकार शून्य रहा। यहाँ तक कि १८५७ ई० का साल आ गया। जिसके सन्तान नहीं होती उसका हृदय पाषाण हो जाता है, उसके दिल में प्रेम नहीं रहता। वह विद्रोही सेना के साथ मिल कर राष्ट्रीय प्रबन्ध को नष्ट-भ्रष्ट करने लगा। मौलवी अमीनउल्ला को दिनदहाड़े मार डालनेवाला यही घसियारा था।

दोपहर का समय था, घसियारा अपने घर पर पहुँचा और नर्गिस नज़र को बाहर ठहरा कर अन्दर गया। उसकी स्त्री ने अधीरता से पूछा, "क्या मिला?"

"तुम बतलाओ।"

"रुपया पैसा।"

"इससे बढ़ कर।"

"सोने के भूषण।"

"उससे भी अच्छी वस्तु।"

"वह क्या?"

घसियारे ने कहा, "एक फूल सी खूबसूरत लड़की।"

घसियारिन का चेहरा खिल गया। उसकी आँखों में आनन्द झलकने लगा। वह अधीर होकर भागी और नर्गिस नज़र को गले से लगाकर रोने लगी। इस समय उसे

ऐसा प्रतीत हुआ, मानो नर्गिस नज़र उसकी अपनी बिछुड़ी हुई बेटी है, जो चिरकाल के पश्चात् उसके पास वापस आई है। इस रात उन दोनों के आनन्द का पारावार न था। उनको वह वस्तु मिली थी, जिसके लिए वे दिन रात रोते रहते थे। इस महान् विप्लव ने उनके भीगे हुए नेत्रों को शुष्क कर दिया था। परन्तु शोक ! उनका यह आनन्द केवल एक रात्रि के लिए था, जो प्रातःकाल चन्द्रमा की चाँदनी के साथ ही नष्ट हो गया। दिन चढ़ा तो अँगरेज़ी सेना के सिपाहियों ने घसियारे को गिरिफ़्तार कर लिया और देहली ले चले। वहाँ पचासों मनुष्यों ने गवाही दी कि यह आदमी विप्लव में शामिल था। अधिकारियों ने उसे फाँसी का दण्ड दिया। यह समाचार घसियारिन ने सुना तो पछाड़ खाकर गिर पड़ी, और कई दिन तक बीमार रही। नर्गिस नज़र ने उसकी सेवा-शुश्रूषा में दिन रात एक कर दिया। माँ को खोकर उसने माँ की क़द्र जानी थी। परन्तु इसका सारा प्रयत्न व्यर्थ हुआ। घसियारिन बच न सकी। नर्गिस नज़र सिर पीट कर रह गई। वह अब संसार में अकेली थी, निस्सहाय और दीन। जब कभी पिछले ऐश्वर्य के दिनों को स्मरण करती तो नयनों से आँसू छलक पड़ते और पहरों हिचकियाँ बँधी रहतीं। परन्तु विवश थी। ढोर डंगर चराती थी, उपले थापती थी और रूखा-सूखा खाकर जहाँ जगह मिलती वहीं पड़ रहती थी।

(५)

इसी प्रकार कई वर्ष बीत गये। नर्गिस नज़र जवान हुई। उसके मदमत्त यौवन की किरणों से सारा गाँव जगमगाने लगा। प्रकृति ने उससे सुख-सम्पत्ति छीन ली थी, माता-पिता छीन लिये थे, परन्तु उसके रूप-सौन्दर्य्य को वह भी न छीन सकी। वह गाँव में रहती थी, गाँववालों को चिन्ता हुई कि जवान लड़की का कुँआरी रहना उचित नहीं। किसी ने वस्त्र दिया, किसी ने रुपया पैसा, और इस प्रकार नर्गिस नज़र का ब्याह एक घसियारे के साथ कर दिया गया। उस समय उसे बहादुरशाह का समय याद आ गया, जब उसकी बात टालने का साहस किसी को न था। ब्याह के पश्चात् जब एकान्त हुआ, तो घसियारे पति ने कहा, देखो तुमने शाही घराने की रोटियाँ खाई हैं, यहाँ वह आन-बान न चलेगी। अब अपने ऐश के दिनों को भूल जाओ, और घसियारिन की तरह रहो। नहीं तो मार मार कर हड्डियाँ तोड़ दूँगा।

नर्गिस नज़र के कलेजे में जैसे किसी ने बाण मार दिया। वह कई वर्षों से दुख झेल रही थी। उन्हें उसने अबला स्त्री होकर वीरता के साथ सहन किया था। विपत्तियों की आँधी में उसने अपने सजल नेत्र किसी के सामने न किये थे। शाही गौरव उसको दीनता के प्रकट करने से रोक देता था। परन्तु अब उसे यह आशा न थी कि ब्याह के पहले ही दिन

पति उसे ऐसे शब्द कहेगा। प्रेम की दो बातों के स्थान में बाण जैसे शब्द सुन कर नर्गिस नज़र को ऐसा प्रतीत हुआ मानो किसी ने गोली मार दी हो। वह काम करने से न घबराती थी, न निर्धनता का जीवन उसे दुर्वह जान पड़ता था, परन्तु क्या उसकी प्रारब्ध में चार मीठे शब्द भी न थे? उसके नेत्रों से आँसू बहने लगे। एक दिन वह था, जब इन आँसुओं पर मोती निछावर होते थे। परन्तु आज यह सुन्दर जल कितना निकृष्ट हो गया था। समय के फेर ने उसके मोल को धूल में मिला दिया था।

———

संसार की सबसे बड़ी कहानी।

(१)

पृथ्वी के प्रारम्भ में जब परमात्मा ने हमारी नयनाभिराम सृष्टि रची, तो आदमी को चार हाथ, चार पाँव, दो सिर दिये परन्तु दिल एक ही था।) और कहा "तू कभी दुःखी न होगा।"

उस समय आदमी बलवान्, सूरमा, शान्त, प्रसन्न-हृदय और प्रफुल्ल-वदन था। प्रकृति की समझ में न आनेवाली समस्त शक्तियाँ सदा उसके सामने पानी भरती थीं, और दुःख और कलह पर संसार के द्वार बन्द थे।

परन्तु शैतान को यह स्वर्गीय दृश्य पसंद न आया।

उसने अपने छल-कपट के विनाशकारी शस्त्र लेकर आदमी पर बार-बार आक्रमण किये, परन्तु चार हाथोंवाले, चार पाँववाले दो सिरों और एक दिलवाले आदमी के सामने उसकी कोई पेश न गई, और सुधा और संगीत का सुन्दर संसार पाप की काली छाया से सुरक्षित रहा।

परमात्मा ने अपने जीव की यह वीरता देखी और प्रसन्न हुआ।

(२)

चिरकाल के पश्चात् शैतान ने दुनिया पर फिर आक्रमण किया।

रात का समय था। आदमी शान्ति की निद्रा में स्वर्ग के स्वप्न देख रहा था। शैतान अपने झिल्लीदार पंजों को धीरे-धीरे ज़मीन पर रखता हुआ आदमी के पास आया और अपनी जादू की तलवार से उसके दो टुकड़े करके भाग गया। परतु आदमी को अर्ध-रात्रि के इस आसुरी कृत्य का ज्ञान न हुआ।

प्रातःकाल जब संग्राम हुआ, तो दो हाथोंवाले, दो पाँव-वाले, एक सिरवाले, आधे दिलवाले, दोनों आदमियों ने शैतान का देह और आत्मा की सम्पूर्ण शक्तियों से मुक़ाबिला किया, परन्तु उनमें साहस और उत्साह न था।

शैतान जीत गया।

उसने विजय और आनन्द का क़हक़हा लगाया, और इसके साथ ही शान्त और संतोष-भरे संसार में ईर्ष्या-द्वेष और दुःख-दारिद्र्य की भयानक बीमारियों ने प्रवेश किया।

(३)

अब आदमी वह पहला सूरमा, सज्जन, सुबुद्धिमान् आदमी न था। उसके अधरों पर मुस्कान के स्थान में ठंडी आहें थीं; और जीवन का प्रकाशमय मार्ग उसकी आँखों से ओझल हो गया था।

और दो हाथोंवाला, दो पाँवोंवाला, एक सिरवाला, आधे दिलवाला आदमी अपने भगवान् के सामने भूमि पर गिर पड़ा, और अपने बीते हुए सुनहरे समय की वापसी के लिए रो रो कर प्रार्थना करने लगा।

परमात्मा ने अपने उपासक का आर्त्त-नाद सुना, और कहा, उठ! निराशा छोड़। अपने बिछुड़े हुए दोनों भाग मिला, और फिर तुझे कोई भी दुःख न दे सकेगा।

प्रेम और पवित्रता की, जीवन और ज्योति की, संगीत और सौन्दर्य्य की यह अमर वाणी आज भी वायु-मण्डल में उसी तरह गूँज रही है। मगर दुनिया के अज्ञान बेटे उसकी ओर ध्यान नहीं देते।

शैतान यह देखता है, और हँसता है।

भग्न-हृदय ।

(१)

संध्या का समय था । जगतसिंह नदी-तट पर आये और सुन्दरी प्रमदा के पास बैठ गये, परन्तु प्रमदा उसी प्रकार उदास बैठी रही ।

उसे जगतसिंह से प्रेम था । वह उन्हें देख कर आनंद में विह्वल हो जाती थी । उसने उनकी आँखों में प्रेम की तरंगें दौड़ती देखी थीं । उसने उनकी रसीली वाणी में प्रेम का पाठ पढ़ा था । उसने उनके ओजस्वी वचनों में प्रेम का संगीत सुना था, और इन सब प्रभावों को अपने अन्तस्तल में छिपा रखा था । वह उन्हें देख कर प्रसन्नता से झूमने लग जाती थी । उसकी यह आनन्द-लहरी जगतसिंह को भी मतवाला बना देती थी, जिस प्रकार ख़रबूज़े को देख कर ख़रबूज़ा रंग पकड़ता है ।

परन्तु आज जगतसिंह के आने पर उसने कोई हर्ष, कोई उल्लास, कोई आवेग प्रकट न किया, और जिस प्रकार बैठी थी उसी प्रकार बैठी रही । मानों वह मनुष्य नहीं, मिट्टी की मूर्ति थी, जिसमें कोई चेष्टा, कोई भावना न थी । जगत-

सिंह ने धीरे से अपना हाथ उसके कंधे पर रखा और एक प्यार से भरी हुई थपकी देकर कहा, "प्रमदा।"

प्रमदा ने अपना मुँह जगतसिंह की ओर किया और अपनी आँखें उसकी ओर उठाईं, परन्तु उनमें वह चंचलता न थी, जिसने जगतसिंह के हृदय को जीत लिया था। उनमें आँसू थे, और आँसुओं में करुणा। जगतसिंह के हृदय पर जैसे किसी ने घूँसा मार दिया। थोड़ी देर चुप रह कर बोले, "प्रमदा मैं क्या कर सकता हूँ?"

प्रमदा ने जगतसिंह का कठोर मर्दाना हाथ अपने कोमल ज़नाने हाथ में लेकर दबाया और कहा, "तो तुम अवश्य जाओगे?"

"यह मेरा कर्त्तव्य है, जिसे मैं अवश्य पूरा करूँगा, और मुझे करना चाहिए।"

"कैसे मर्द हो, मेरा विचार न करोगे?"

जगतसिंह के तेवर बदल गये। उन्होंने प्रमदा की ओर घूर कर देखा और बोले, "तुम राजपूतनी हो?"

"हाँ?"

"तुमने राजपूतनी का दूध पिया है?"

"हाँ?"

"तो फिर यह शब्द तुम्हारे मुख से क्योंकर निकले? राजपूत सिंहनी मर जाना स्वीकार करती, परन्तु, यह शब्द मुख से न निकालती।"

प्रमदा की आँखों से आँसू बहने लगे। रोते रोते बोली—"मैं तुम्हें युद्ध-भूमि में जाने से नहीं रोकती, यह तुम पर देश का ऋण है। परमात्मा करे तुम्हारा दूर दूर तक यश हो। परन्तु मेरे यह वियोग के दिन क्यों कर कटेंगे? मेरी आँखें तुम्हें ढूँढ़ती रहेंगी।"

जगतासंह का क्रोध इन आँसुओं में इस प्रकार बह गया, जिस प्रकार नदी की प्रबल धारा में तिनका बह जाता है। कठोरता का स्थान कोमलता ने ले लिया। धीरे से बोले—"थोड़े दिनों की बात है, मैं शीघ्र वापस आ जाऊँगा।"

"पर मेरी जो दशा होगी वह मैं ही जानती हूँ।"

'भविष्य का विचार करो। मैं युद्ध-क्षेत्र में अपने नाम के डंके बजा दूँगा।"

"इस समय तो कोई कलेजा मल रहा है।"

'थोड़े दिन के बाद तुम्हें सहेलियाँ बधाइयाँ दे रही होंगी।"

"परमात्मा करे वह दिन शीघ्र आये—मैं उसी की प्रतीक्षा में तुम्हारी राह देखती रहूँगी।"

यह कहते कहते प्रमदा ने आँखें बंद कर लीं और उस दिन की कल्पना में लीन हो गई। यह कल्पना कैसी मनोहर थी, कैसी आह्लाद-भरी। प्रमदा की आँखों में वह दृश्य फिर गया जब जगतसिंह विजय-पताका उड़ाता हुआ वापस आयेगा, और मेवाड़ के राजपूत उसकी राह में आँखें बिछा

देंगे। सोचने लगी, उस समय मैं कैसी प्रसन्न हूँगी। पृथ्वी पर माँव न पड़ेंगे, मन की प्रसन्नता मन में न समा सकेगी और-होंठों पर मुस्कराहट बन कर प्रकट हो जायगी, जैसी पानी तले वायु हो तो बुलबुले ऊपर दिखाई देने लगते हैं।

एकाएक उसने जगतसिंह की आँखों से अपनी आँखें मिलाईं और दुःख व चिन्ता के आँसुओं को छिपा कर पूछा, "यह महबूबख़ान कौन है?"

"मुग़ल-सिपहसालार।"

"अच्छा और चढ़ाई का कारण क्या है? हमारे राणा ने तो कभी मुग़लों पर आक्रमण नहीं किया।"

"वह हमें जीतना चाहते हैं।"

प्रमदा ने स्त्रियों के स्वाभाविक कटाक्ष से अपनी लम्बी और कोमल उँगली अपने गाल पर रखी और चिंतित-सी हो कर बोली, "यदि हम हार गये तो फिर क्या होगा?"

यह कह कर उसने ठंडी साँस भरी।

जगतसिंह ने एक हाथ से प्रमदा का कंधा पकड़ कर प्यार से हिलाया। दूसरा हाथ अपनी तलवार की मुट्ठी पर रखा और कहा, "प्रमदा यह कभी नहीं हो सकता। हम राजपूत हैं; सिरों की बाज़ी लगादेंगे।"

इतने में डंके की चोट सुनाई दी। जगतसिंह और प्रमदा दोनों उड़ते हुए सड़क के किनारे पहुँच गये। वहाँ सिपाहियों का समुद्र लहरा रहा था। उस समय उनके

चेहरों पर कैसा तेज था, नेत्रों में कैसी चमक। प्रमदा की सोई हुई वीरता भी जाग उठी। सिंहनी माता का दूध अकारथ न गया। वह टकटकी लगा कर उन शूरवीर सिपाहियों की ओर देखने लगी, जो अपनी जन्मभूमि की लाज रखने के लिए प्राण भेंट देने के लिए जा रहे थे। सहसा उसके हृदय में एक शंका उत्पन्न हुई, कहीं जगतसिंह घायल न हो जायँ। इस शंका का उत्पन्न होना था कि उसकी आँखों तले अँधेरा छा गया। उसने सहारे के लिए जगतसिंह की ओर हाथ बढ़ाया, परन्तु वह वहाँ न थे। भीड़ में किस समय बिछुड़ गये, इस बात का उसे पता तक न हुआ। प्रमदा मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी।

घोड़े दौड़ रहे थे, और प्रत्येक दर्शक जो पूरी सावधानी से अपना बचाव न कर रहा था, ख़तरे में था। प्रमदा के अचेत शरीर पर एक घोड़े के पाँव पड़ने ही वाले थे, कि एक सवार ने बिजली की सी तेज़ी से आगे बढ़ कर उसे इस प्रकार उठा लिया, जैसे सोते हुए बच्चे को माँ उठा लेती है।

जब उसे सुध आई, तो वह अपने घर में थी, और उसके सामने एक सुंदर नवयुवक बैठा था। प्रमदा ने उसे देखा; उसने प्रमदा को देखा, और एक ही दृष्टि में ऐसा प्रतीत हुआ जैसे कई संसार बदल गये हैं। प्रमदा के प्राण बच गये थे, परन्तु दिल न बच सका।

(२)

यह सिपाही राणा का सिपहसालार जयसिंह था। उसकी और प्रमदा की प्रीति से जगतसिंह के प्राणों पर आ बनी परंतु वह कुछ कर न सकते थे। उन्हें प्रमदा से यह आशा न थी। वह समझते थे, सब कुछ हो सकता है परंतु प्रमदा से धोखे की आशा नहीं हो सकती। उन्हें इस बात का विश्वास था। परंतु जो न सोचा था वह हो गया, प्रमदा ने आँखें चुराना आरम्भ किया। जो प्रेम की भूखी थी, उसने धन और मान को अपना हृदय दे दिया, और एक ही सप्ताह के अंदर उसका विवाह जयसिंह के साथ पक्का हो गया।

जगतसिंह ने यह सुना तो सिर पीट लिया। आशा कुचले हुए सर्प की नाईं मट्टी में तड़पने लगी, परंतु उन्होंने अपने हाव-भाव में अंतर न आने दिया, और संध्या-समय उसी तरह नियम से नदी-तट पर जाते रहे। उनका विचार था, कि संभव है कभी प्रमदा इधर आ निकले तो उससे दो बातें हो जायँगी। परन्तु प्रमदा ने कभी उधर मुँह भी न किया, जिस तरह उधार लेकर बाबू बनिये की दूकान के सामने से गुज़रना बंद कर देते हैं। यहाँ तक कि पंद्रह दिन बीत गये और सेना सीमा-प्रदेश को रवाना हुई। प्रमदा का हृदय दुख के बोझ से दब गया, परन्तु यह आशंका जगतसिंह के लिए नहीं, किन्तु जयसिंह के लिए थी।

स्त्री अपने प्रेम में इतना बदल सकती है, यह जगतसिंह के लिए नया अनुभव था। परन्तु वह प्रमदा के प्रेम में अब भी दृढ़ थे, और जिस दिन उन्हें युद्ध-क्षेत्र को जाना था, उस दिन भी नदी-तट पर पहुँचे, और उस स्थान से जहाँ वह और प्रमदा दोनों बैठ कर प्रेम की बातें किया करते थे, इस प्रकार रो रोकर बिदा हुए मानों वह स्वयं प्रमदा से बिदा हो रहे हों।

जयसिंह सेना को लिये हुए रण-भूमि में पहुँचे। वहाँ भीषण हत्या-काण्ड मचा हुआ था। जयसिंह ने अपनी ओर से सारा बल लगा दिया, परंतु भाग्य के सामने एक न चली। राजपूतों के पैर उखड़ गये, महबूबख़ाँ की सेना में विजय की ध्वनि उठने लगी। जयसिंह भाग खड़ा हुआ। उसको नाम और यश की इच्छा तो थी, परन्तु उस यश के लिए, जिस साहस और वीरता की आवश्यकता है, उससे वञ्चित था। सेना ने सिपहसालार को भागते देखा, तो उनका रहा सहा साहस भी टूट गया। चारों ओर आपा-धापी मच गई—अपमान सामने खड़ा घूर रहा था। जगतसिंह ने यह देखा, तो उनकी आँखों से आग के अंगारे बरसने लगे। सिंह की नाईं गर्जने लगे। उस समय उनकी जिह्वा पर सरस्वती थी। एक एक शब्द हृदय में चुभता चला जाता था। उनकी वक्तृता ने भागती हुई सेना के पाँव पकड़ लिये। विजय और पराजय में फिर संग्राम होने लगा। जगतसिंह जिधर झुकते थे पर्रे के पर्रे साफ़ करते जाते थे। उनके

सामने कोई खड़ा न हो सकता था, जैसे सख़्त आँधी के सामने गर्दा नहीं ठहरता। यहाँ तक कि संध्या होते होते युद्ध का पाँसा पलट गया। जो विजयी थे उनको पराजय का संदेह होने लगा और जो हार चुके थे उन्हें विजय का विश्वास बँध गया।

दूसरे दिन युद्ध फिर आरंभ हुआ। आज दोनों ओर बड़ा जोश था। एक पक्ष का साहस बढ़ा हुआ था, दूसरा जीवन से हाथ धोकर क्रुद्ध सर्प की नाईं फुंकार रहा था। परन्तु जगतसिंह की सी निर्भयता कहीं दिखाई न देती थी। वह विफलमनोरथ थे। उन्हें जीवन की कोई अभिलाषा न थी। सोचते थे, यदि बच गया तो क्या करूँगा। मेरे जीवन का वसंत समाप्त हो चुका है, अब पतझड़ में रहें भी तो क्या रहें? इससे तो यही अच्छा है कि जन्मभूमि पर बलिदान हो जायँ, कोई याद तो करेगा। इस विचार ने उन्हें मृत्यु की ओर से बेपरवा कर दिया था। वह मरने को तैयार थे, परन्तु मृत्यु उनके निकट न आती थी, मानो उसे भी उनसे डर आने लगा था। एकाएक मालूम हुआ कि जयसिंह शत्रुओं के घेरे में है। जगतसिंह के होंठों पर प्रतीकार की मुस्कराहट खेलने लगी। परंतु दूसरे ही क्षण में उनको ऐसा प्रतीत हुआ मानो प्रमदा उनकी ओर घृणा से देख रही है, और कह रही—मुझे यह विचार न था कि तुम ऐसे नीच भी हो सकते हो।

गंगा का बहाव बदल गया। जगतसिंह ने घोड़े को एड़ लगाई और मनोगति के समान उड़ते हुए वहाँ पहुँच गये, जहाँ जयसिंह पृथ्वी पर अचेत पड़ा था, और एक मुग़ल-सिपाही उस पर झुका उसको क़त्ल करना चाहता था। यदि एक भी क्षण का विलंब हो जाता तो जयसिंह मारा जा चुका था। अकस्मात् जगतसिंह घोड़े को उड़ाते हुए वहाँ पहुँचे और जयसिंह के मूर्च्छित शरीर को उठा कर ले गये। शत्रु चकित रह गये। इस प्राणपण की किसी को आशा न थी। जगतसिंह पर चारों ओर से बाणों की वर्षा होने लगी, परंतु वह इनकी इतनी भी परवा न करते थे जितनी छोटा बालक पानी की बूँदों की करता है। वह घोड़े को उड़ाये लिये जाते थे। इस समय उन्हें अपने तन-बदन का होश न था, न मरने का भय था। उन्हें केवल एक विचार था, कि किसी प्रकार जयसिंह के प्राण बच जायें और उनका यह मनोरथ सिद्ध हो गया परंतु उनका अपना शरीर तीरों से छलनी हो गया।

(३)

विजयी सेना मेवाड़ में पहुँची तो लोगों ने पैरों में आँखें बिछा दीं। जयसिंह के हर्ष का ठिकाना न था। बाज़ारों में पुरुष थे, उन्होंने जयकारे लगाये। छतों पर स्त्रियाँ थीं, उन्होंने फूल बरसाये। जयसिंह ऐसा प्रसन्न था जैसे कोहनूर हीरा हाथ लग गया हो, ऐंठ कर चलता था और

बारम्बार छतों की ओर देखता था जैसे किसी वस्तु की खोज कर रहा हो। सहसा उसका कलेजा धड़कने लगा। प्रमदा स्त्रियों में खड़ी थी और उसकी ओर तृषित नेत्रों से देख रही थी। जयसिंह ने अपने लंबे क़द को और भी लंबा किया और गर्व से चलने लगा। पुरुष कहते थे कैसा सूरमा है, इसने अपने नाम की लाज रख ली है। स्त्रियाँ एक दूसरी से बातें करती थीं, इसने माँ का दूध सफल कर दिया, कैसा बाँका वीर है। परन्तु जगतसिंह जिन्होंने अपने आपको मृत्यु के मुख में देकर यह विजय ख़रीदी थी, पालकी में सबसे पीछे थे। उन पर न किसी स्त्री ने फूल फेंका और न किसी पुरुष ने उनके नाम का जयकार बुलाया। जयसिंह के हृदय में जब कभी यह विचार आ जाता तो उसका मुख-मंडल फीका पड़ जाता, जैसे चन्द्रमा पर बादल आ जाते हैं।

दूसरे दिन दरबार लगा। लोग इस तरह टूटे जैसे पतंगे दीपक पर टूटते हैं। कहीं तिल फेंकने को स्थान न था। चारों ओर मनुष्यों के सिरों का सागर लहरा रहा था। सबकी आँखें एक-मात्र जयसिंह के मुख पर लगी थीं। लोग उसकी ओर देखते थे और उसके सौभाग्य की चर्चा करते थे। ईश्वर की महिमा देखो, जो दासी थी वह रानी बन बैठी और जो रानी थी उसे कोई पूछता भी न था—जगतसिंह अपने मकान की अँधेरी कोठरी में पड़े थे और अपने घावों से कराह रहे थे।

राणा ने खड़े होकर कहा—"जयसिंह! मैं तुमसे अत्यन्त

प्रसन्न हूँ। मुझे तुमसे जो जो आशाएँ थीं, तुमने वह सारी पूरी कर दीं। मेवाड़ का बच्चा बच्चा तुम्हारा कृतज्ञ है। तुम शूरवीर हो। तुमने युद्ध में पीठ नहीं दिखाई। तुमने प्राणपण से काम किया है, इसलिए—"

चारों ओर सन्नाटा था, कोई शब्द सुनाई न देता था। लोग अपने जातीयरक्षक की प्रशंसा महाराणा के मुख से सुनने को अधीर हो रहे थे। सहसा एक वृद्ध मनुष्य हाथ बाँध कर खड़ा हो गया और ऊँचे स्वर से बोला, "महाराज! यह झूठ है। विजय जयसिंह ने प्राप्त नहीं की, यह असम्भव था। इसमें मरने का साहस नहीं, लड़ने का उत्साह नहीं। इसने मेवाड़ का नाम डुबो दिया था।"

दरबार में कोलाहल मच गया, परन्तु महाराज के इशारे से फिर चारों ओर शान्ति हो गई। उन्होंने पूछा, "तो यह विजय किसने प्राप्त की है।"

बूढ़े ने कहा—"जगतसिंह ने?"

जयसिंह का मुख कानों तक लाल हो गया। परन्तु उसने साहस से कहा, "यह कौन कहता है?"

उस समय उसकी आवाज़ थरथरा रही थी।

राणा साहब ने जयसिंह को चुप रहने का इशारा किया, और वृद्ध रामसिंह से पूछा, "तुम्हारे पास इसका क्या प्रमाण है?"

"मैं राजपूत हूँ।"

"परंतु जयसिंह भी तो राजपूत है। तुम दोनों सच्चे नहीं हो सकते।"

"स्वयं जगतसिंह से पूछ लिया जाय"।

"यह कैसे हो सकता है"। जयसिंह ने बड़बड़ाते हुए कहा, "वह बीमार है, उसे यहाँ लाना उसको मृत्यु के मुख में डालना है।"

महाराणा ने कहा, "उसका जीवन हमें प्यारा है, परन्तु सचाई उससे भी प्यारी है। जाओ उसकी पालकी यहाँ उठा लाओ। इस बात का निर्णय होना चाहिए।"

(४)

रामसिंह की बात सुन कर जगतसिंह फुंकारें मारने लगे। उन्हे जयसिंह से इस नीचता की आशा न थी। वह लेटे हुए थे, उठ कर बैठ गये और अपना सिरहना दूर फेंक कर बोले, "रामसिंह! यह असह्य है, मैं चल कर जयसिंह का मुँह बंद कर दूँगा।"

पालकी दरबार को रवाना हुई।

जगतसिंह सोचते थे, जयसिंह ने राजपूतों के नाम को कलंक लगा दिया। वह कायर है, यह मैं जानता था। परन्तु वह झूठा भी है, इसका मुझे पता न था। उसने पहले मेरे प्रेम की नगरी उजाड़ी थी, अब कीर्ति पर डाका मारता है। मैंने एक बार सहन किया, परन्तु अब न करूँगा।

पुरस्कार लेने गया था, लज्जित होकर निकलेगा। मैं उसका एक साधारण सैनिक हूँ। कदाचित् वह समझता होगा कि मुझमें यह साहस न होगा। परन्तु मैं उसे दिखा दूँगा कि सचाई में कितना बल है। इसके सामने लक्ष्मी और प्रतिष्ठा भी सिर नहीं उठा सकतीं।

इतने में पालकी प्रमदा के मकान के सामने से गुज़री। जगतसिंह का हृदय धड़कने लगा। पुराने दिनों की स्मृति मस्तिष्क में करवटें बदलने लगी। आँखों में पानी आ गया। सहसा वह छत पर दिखाई दी। जगतसिंह की आँखें उसकी आँखों से मिलीं। प्रमदा की आँखों में दिल रखा था। जगतसिंह की आँखों ने उनमें एक संदेसा पढ़ा। उस संदेसे में कैसा दुःख था कैसी ख़ुशामद। जैसे कटोरी में अधिक जल डाला जाय तो छलक जाता है, वैसे ही प्रमदा का दुख और ख़ुशामद आँखों से बाहर छलक रहे थे। जगतसिंह का हृदय काँप गया। उन्हें ऐसा जान पड़ा, जैसे वह कह रही है, मेरी लाज तुम्हारे हाथ है। वह दरबार की घटना सुन चुकी थी उसे विश्वास था, कि जगतसिंह जो कुछ कह देंगे, वही सत्य माना जायगा। महाराणा को उन पर अटल विश्वास था। उन्हें स्वप्न में भी यह विचार न था कि जगतसिंह झूठ बोल सकते हैं। वह उन्हें इस विषय में देवता समझते थे। परंतु प्रमदा को संदेह था, कि कहीं सापत्न्य द्वेष से जगतसिंह जयसिंह की प्रतिष्ठा

धूल में न मिला दे। जगतसिंह ने अपने घायल शरीर को धीरे से हिलाया और बोले, "क्या कहती हो ?"

प्रमदा ने चारों ओर देखा। सारा नगर दरबार में था। आस पास कोई देखने वाला समीप न था। तब उसने हाथ बाँधे और आँखों के आँसू गोरे गालों पर बहा कर कहा, "परमात्मा के लिए जो कहना, सच कहना।"

वह भी जयसिंह को ऐसा कायर न समझता थी, कि युद्ध-क्षेत्र से प्राण बचा कर भाग निकला होगा।

जगतसिंह सब कुछ समझ गये। उनके होंठों पर मुस्कराहट की एक रेखा सी आ गई। उन्होंने अपना निर्बल हाथ उठाया और उसके इशारे से प्रमदा को धीरज देते हुए बोले, "व्याकुल न हो। मैं तुम्हारे लिए इससे भी अधिक कर दिखाऊँगा।"

हृदय की थाह किसने पाई है ? जगतसिंह ने अपना विचार बदल लिया। प्रमदा के लिए उन्होंने अपने प्रेम का गला दबाया था, अब उसी के लिए अपनी कीर्ति लुटाने को तैयार हो गये। जो काम मेवाड़ के सारे सिपाही न कर सकते थे, वह एक स्त्री की करुणा-दृष्टि ने कर दिया। सोचने लगे, मैं मर रहा हूँ। मुझे कीर्ति मिले या न मिले, बराबर है। परन्तु मैं प्रमदा का जीवन क्यों ख़राब करूँ। जयसिंह की इस नीचता और कायरता से उसका दिल टूट जाएगा, उसका सुख उजड़ जायेगा। मैंने उससे प्रेम किया है, क्या अब उसके लिए थोड़ा सा त्याग न करूँगा।

पालकी दरबार में पहुँची। चारों ओर शोर मच गया। लोग कहते थे, देखें ऊँट किस करवट बैठता है। जयसिंह का मुख अस्त होते हुए सूर्य्य की नाईं लाल था। सोचता था, मेरी कीर्ति की संध्या आ पहुँची। वह चाहता था, यदि अवसर मिले तो दरबार से निकल जायं, और फिर कभी किसी को अपना मुँह न दिखायें। दिल में कहता था, यदि जगतसिंह ने सच कह दिया तो आँखें न उठेंगी, सारे मेवाड़ में बदनाम हो जाऊँगा, महाराणा साहब दरबार से निकाल देंगे और और कदाचित् इससे भी अधिक दण्ड दें।

(५)

महाराणा साहब सिंहासन से उतरे और जगतसिंह की पालकी के समीप आये। दोपहर के समय आधी रात का सन्नाटा छा गया। लोगों के दम भी रुके हुए थे। कोई खाँसता न था, न कोई ज़ोर से साँस लेता था। सचाई का पर्दा उठनेवाला था, परन्तु सबसे अधिक चिन्ता दो मनुष्यों को थी। दरबार में जयसिंह को, नगर में प्रमदा को। महाराणा साहब आगे बढ़े और देश और जाति के सच्चे भक्त पर झुक गये। जगतसिंह ने हाथ बाँध कर प्रणाम किया।

महाराणा ने अपना हाथ जगतसिंह के सिर पर फेरा और प्रेम से कहा, "तुम्हें घायल देख कर हमें शोक हुआ।"

जगतसिंह ने धीरे से उत्तर दिया, "यह घाव मेरे भूषण

हैं, मैंने इन्हें भारत-माता की सेवा करते हुए पाया है। परन्तु, मेरे शरीर से भी अधिक घायल मेरा हृदय है, और वह घाव मुझे इन घावों से भी प्यारा है। मुझे उस पर मान है।"

महाराणा साहब चौंक पड़े। जगतसिंह के हृदय पर कौन सा घाव लगा है, यह वह न जानते थे। वह जगत-सिंह और प्रमदा के प्रेम से अपरिचित थे। उन्हें संदेह होने लगा, कि जयसिंह ने झूठ बोला है, और जगतसिंह इसी घटना की ओर इशारा कर रहा है। इस समय रामसिंह का मुख-मण्डल चमक रहा था।

महाराणा ने पूछा, "तो क्या जयसिंह सचमुच युद्ध-क्षेत्र से भाग निकले थे?"

दरबार का सन्नाटा और भी गहरा हो गया। लोगों के कान इधर ही लगे हुए थे, जैसे यह उनके जीवन और मृत्यु का प्रश्न हो। जगतसिंह ने कुछ देर सोचा और फिर निश्चय करके उत्तर दिया, "यह उन पर झूठा कलङ्क लगाया गया है।"

सारे दरबार में शोर मच गया—"जयसिंह की जय," "सिपहसालार की जय" के जयकारों ने आकाश हिला दिया। यह जयकारे सुन कर जगतसिंह को ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे किसी ने उसे उठा कर आग में झोंक दिया है। वह प्रमदा के लिए झूठ बोलने पर उद्यत हो गये थे, परन्तु

जयसिंह की प्रशंसा के जयकार उन्हें विष के घूँट मालूम हुए। उस समय उन्होंने सच्ची बात कहने का यत्न किया परन्तु शब्द उनके कण्ठ में फँस गये; जिस प्रकार रामसिंह का हृदय से निकला हुआ आनंद उसके हृदय ही में अटक गया था। उनको लोगों की जय-ध्वनि ने रोक लिया था रामसिंह जगतसिंह के असत्य भाषण से सटपटा कर रह गया था, परन्तु उसके हृदय में जगतसिंह का सम्मान कई गुना बढ़ गया था। महाराणा साहब सिंहासन पर चढ़ गये, और उँगली से जयसिंह की ओर इस प्रकार संकेत करके जैसे कोई जादूगर लोगों पर प्रभाव डालता है, एक एक शब्द पर ज़ोर देकर बोले—"जयसिंह विजयी है, उसने देश की जो सेवा की है उसका बदला तो नहीं दिया जा सकता, तथापि कृतज्ञ होकर मैं उसे अपनी पुत्री ब्याहदूँगा"।

"जयसिंह की जय" के जयकारे फिर वायुमण्डल में गूँजने लगे। रामसिंह की सिसकियाँ इन जयकारों में डूब गईं। उसकी आँखों में आँसू थे, परन्तु उनकी ओर किसी का ध्यान न था। वह इस समय मूर्च्छित हो गये। उन्होंने महाराणा की आवाज़ न सुनी।

रात को जयसिंह का राज-कुमारी के साथ ब्याह हो गया।

(६)

प्रमदा ने यह सुना तो सन्नाटे में आ गई। उसे यह आशा न थी। जयसिंह के थोड़े दिनों के प्रेम ने उसे विश्वास

दिला दिया था कि वह उसे सच्चे हृदय से प्यार करता है। प्रतीक्षा के दिन उसने जिस प्रकार व्यतीत किये थे यह वही जानती थी। जयसिंह की वापसी पर वह ऐसी प्रसन्न थी, जैसे उसे राजगद्दी मिल जानेवाली हो। परन्तु उसे क्या पता था, कि आशा निराशा में और सुख दुख में बदला जायेगा, और उसका जीवन निरंतर असफलताओं की कड़ी बन जायेगा। यह समाचार सुन कर वह शून्य सी हो गई, मानो फूल की शाखा पर बिजली गिर पड़ी हो। इस आघात से उसकी प्रकृति बहुत दिनों तक न सँभल सकी; दिन-रात रोती रही।

तब उसे जगतसिंह याद आये। सोचने लगी मैंने जो व्यवहार जगतसिंह से किया था, वही जयसिंह ने मुझसे किया है। यह प्राकृतिक नियम है। रूप रंग और पदवी देखकर रीझ गई थी, पर इसमें यह गुण भरे होंगे, यह ज्ञान न था। धीरे धीरे जगतसिंह का सोया हुआ प्रेम उसके हृदय में जागने लगा, जिस प्रकार क्रोध उतर जाने पर मनुष्य पर सचाई प्रकट होने लगती है। उस समय वह कैसा दुखी होता है, कितना व्याकुल होकर अपने आप पर झुँझला उठता है। यही दशा प्रमदा की थी। एक दिन जगतसिंह के पुराने पत्र पढ़ने बैठी, व्यतीतकाल आँखों तले फिर गया। कैसे दिन थे, जिनमें वर्तमान का विश्वास न था, परन्तु भविष्य की मोहिनी से भरपूर थे। मनुष्य वर्तमान काल की असफलताओं और कष्टों पर संतोष कर सकता है, परन्तु आने-

वाले दिनों को सुन्दर दृश्य से शून्य नहीं देख सकता। प्रमदा का वर्तमान और भविष्य दोनों अंधकारमय थे। तब वह बीते हुए दिनों की ओर दौड़ती, परन्तु उसे पाना मनुष्य की शक्ति से बाहर है। हार कर जगतसिंह के पत्र पढ़ने में मग्न हो जाती, और उसके चिंतन में अपने दुःखों को डुबा देती।

परन्तु वह जानती न थी न जानना चाहती थी कि भविष्य भूत का बेटा है। जहाँ भूत है वहाँ भविष्य का होना निश्चित है और यह प्राकृतिक नियम ऐसा है कि जिसे संसार भर की शक्तियाँ मिल कर भी नहीं तोड़ सकतीं। होते होते भूतकाल के बारीक परदे में मनोहर भविष्य अपना प्रकाशमय पुंज दिखाने लगा, जैसे कुहरा के मिट जाने पर आँखों से ओझल हुए मकानों की चोटियाँ दिखाई देने लगती हैं। प्रमदा की प्रकृति सँभल गई, सोचा मैं उनसे क्षमा माँग लूँगी।

संध्या-समय था। प्रमदा नगर से बाहर नदी-तट पर पहुँचो। यह वही स्थान था जहाँ उससे और जगतसिंह से कई कई घंटे प्रेम की बातें हुआ करती थीं। जहाँ लज्जा मुस्कराती थी, कामुकता ओट में खड़ी देखती थी और हँसती थी। जहाँ जगतसिंह के मर्दाना क़हक़हे गूँजते थे। जहाँ उन्होंने प्यार के बीज बोये थे, प्रीति की प्रातिज्ञायें की थीं; स्नेह की सौगन्धें खाई थीं। आज वह समय किधर गया? प्रमदा की आँखों में आँसू आ गये।

सहसा दूर से कुछ लोग आते दिखाई दिये। प्रमदा का कलेजा

धड़काने लगा, हृदय में शंकायें उठने लगीं। वह मनुष्य निकट आए तो प्रमदा की आँखे आश्चर्य, दुख, और लज्जा से खुली रह गईं—यह जगतसिंह की अर्थी थी। उसे प्रेम का जीवन प्राप्त न हुआ था, परन्तु उसने प्रेम की मृत्यु मर कर अपनी कसर पूरी कर ली। प्रमदा पछाड़ खाकर गिर पड़ी।

जब उसे सुध आई, उस समय उसके माता-पिता उसके सामने बैठे थे। उसे होश में देखकर वह बहुत प्रसन्न हुए। मा ने पूछा "क्यों बेटी! अब क्या हाल है?"

प्रमदा ने करवट बदल कर उत्तर दिया "अब तो अच्छा है?"

"और यह तुझे हुआ क्या था? क्या कोई रोग है?"

प्रमदा ने सिराहना खींच कर अपनी गोद में रख लिया और चारपाई पर बैठ गई। इसके बाद कुछ विचित्र सी दृष्टि से जिसमें लज्जा, पश्चात्ताप, निराशा और पागलपन के लक्षण दिखाई देते थे, माता और पिता दोनों की ओर बारी बारी से देखा और फिर एक बार जल्दी से यह शब्द कह गई।

"वह मर गये हैं और उनके साथ मेरा प्रेम भी मर गया है। अब इस संसार में मेरे लिए क्या रखा है? मैं यहाँ न रहूँगी। तुम मुझे कुछ न कहो।"

आधी रात को जब संसार निद्रा के सागर में डूबा हुआ था, प्रमदा ने अपने घर का दरवाज़ा खोला और धीरे धीरे नगर से बाहर निकल गई।

इसके बाद उसे किसी ने नहीं देखा।

प्रबला

[नाटक]

पात्र:—मूलराज—जैसलमेर के महाराज।

रायसिंह—जैसलमेर के राजकुमार।

अनूपसिंह—जैसलमेर के सेनापति।

ज़ोरावरसिंह—अनूपसिंह का लड़का।

प्रबला—अनूपसिंह की बहादुर स्त्री।

ईरा—अनूपसिंह की बहन।

पहला दृश्य

जैसलमेर के सेनापति का घर।

समय संध्या।

(प्रबला और ईरा।)

प्रबला—

तीन महीने बीत चुके, और अभी तक महाराज बन्दीगृह में हैं। वे दिल में क्या कहते होंगे ? सोचते होंगे, मेरी प्रजा ने मुझे भुला दिया। सब विद्रोहियों के साथ मिल गये, मेरी चिन्ता किसी को नहीं।

ईरा—

और सर्वथा निर्दोष हैं।

प्रबला—

बिलकुल ठीक। सिवा इसके कि उन्होंने भूल से एक ऐसे व्यक्ति को मंत्री नियुक्त कर दिया, जो इस महान् पद के योग्य न था।

ईरा—

परन्तु वह तो कभी का मारा जा चुका है। फिर अब महाराज को क़ैद रखने की क्या आवश्यकता है?

प्रबला—

जिन लोगों ने मंत्री का वध किया है, उनको भय है, कि महाराज उनसे इस उपद्रव का उत्तर माँगेंगे, और उनको सख़्त सज़ा देंगे।

ईरा—

निस्संदेह। महाराज ऐसे विद्रोहियों को कभी क्षमा न करेंगे।

प्रबला—

और उनका लड़का रायसिंह भी उनका विरोध करता है।

ईरा—

कौन कहता है?

प्रबला—

मैंने हर किसी से यही सुना है। सब लोग यही कहते हैं।

ईरा—

परन्तु यह झूठ है। रायसिंह अपने पिता के वियोग में हर समय घबराया रहता है। उसकी सजल आँखों से, उसके उदास चेहरे से, उसकी बावलों की सी बातों से प्रकट होता है, कि उसका दिल इस शोक में विह्वल है। वह अभी तक खाट पर बैठ कर काम करता है। अर्थात् वह अपने आपको युवराज समझता है।

प्रबला—

मैंने यह बात आज से पहले कभी नहीं सुनी।

ईरा—

महाराज की इस विपत्ति में राजकुमार का कोई भाग नहीं।

प्रबला—

तो वह महाराज को छुड़ाने का यत्न क्यों नहीं करता ?

ईरा—

उसे अभी तक मालूम नहीं, कि महाराज कहाँ क़ैद हैं ? अगर मालूम हो जाता, तो वह जैसलमेर की ईंट से ईंट बजा देता, अपने देश के एक एक सिपाही को निछावर कर देता, और अपने जीवन और स्वाधीनता दोनों की परवा न करता।

प्रबला—

अच्छा बहन ! मुझे यह तो बताओ, कि जब राजकुमार भी महाराज के पक्ष में हैं, तो फिर ऐसा कौन आदमी है, जो

महाराज को क़ैद रख सके। मेरे विचार में ऐसा साहस जैसलमेर के किसी आदमी को नहीं हो सकता।

ईरा—

हो सकता है, प्रबला ! हो सकता है।

प्रबला—

(आश्चर्य्य से) किसे ?

ईरा—

जाने दो। इन बातों में क्या धरा है ? हम स्त्रियाँ हैं। हम घर के अन्दर रहती हैं। हमको राज्य के कामों से कोई सम्बन्ध नहीं।

प्रबला—

ईरा ! तुमसे यह किसने कहा है कि हमारा काम घर के अन्दर, केवल घर के अंदर है।

ईरा—

सारी दुनिया यही कहती है। मैंने हर स्त्री और हर पुरुष के मुँह से यही सुना है।

प्रबला—

परन्तु यह ठीक नहीं है।

ईरा—

ठीक नहीं है ?

प्रबला—

हमारा काम घर के अन्दर है। मगर किस समय ? जब देश में शान्ति हो, जब जाति को किसी प्रकार का कोई भय न

हो, जब हमारी जन्म-भूमि उन्नति और अभ्युदय के मार्ग में आगे बढ़ रही हो। उस समय निस्संदेह हमारा काम यह है, कि हम अपनी सारी शक्ति, सारी प्रतिभा, और सारी विद्या घर की उन्नति के लिए समर्पण कर दें। परन्तु जब हमारा राजा विपत्ति में फँसा हो, जब हमारे देश पर विनाश की काली घटा छा रही हो, जब हमारा भविष्य अनिश्चित हो, उस समय हमारा काम ही नहीं, धर्म्म है, कि अपने घर की शान्ति को अपने देश के हित पर निछावर कर दें और घर से बाहर निकलें।

ईरा—

घर से बाहर निकलें ?

प्रबला—

हमारा काम घर के अन्दर है, मगर किस समय ? जब बाहर का काम हमारे पुरुषों ने सँभाल रखा हो। परन्तु जब वह अपना धर्म्म न समझते हों, या न समझ सकते हों, तो हमारा धर्म्म है, कि अपने घर के काम को लात मार दें, और बाहर की विशाल दुनिया और उसके युद्ध-क्षेत्र में प्रवेश करें, और अपने पुरुषों पर सिद्ध कर दें, कि हम जो घर के अंदर बंद पड़ी रहती हैं, उनमें यह शक्ति भी है, कि तुम्हारी भूल को सुधार सकें, और तुम्हें कंधों से पकड़ कर बता सकें कि तुम बड़ी भारी भूल कर रहे हो। तुम्हारा रस्ता वह है।

ईरा—

तुम्हारी बातें अद्‌भुत हैं !

प्रबला—

(शान्त होकर) तो मुझे बताओ, वह आदमी कौन है, जो महाराज और राजकुमार दोनों की परवा नहीं करता ?

ईरा—

मैं स्त्री हूँ। मैं घर के अन्दर रहती हूँ। मुझे यह सब कुछ कैसे मालूम हो सकता है ?

प्रबला—

तुम झूठ बोल रही हो।

ईरा—

यह बात मुझसे न पूछो, मैं न बताऊँगी।

प्रबला—

ईरा !

ईरा—

तुम्हें विश्वास न होगा।

प्रबला—

मैं तुम्हारी हर एक बात मानने को तैयार हूँ।

ईरा—

तुम नाराज़ हो जाओगी।

प्रबला—

मैं राजपूतनी हूँ, और राजपूतनी सच्ची बात पर कभी नाराज़ नहीं होती—तुम मेरी जाति का अपमान करती हो।

ईरा—

मगर तुम्हें इससे कोई लाभ न होगा।

प्रबला—

मैंने निश्चय कर लिया है कि आज आधी रात से पहले पहले माहाराज को छुड़ा लूँगी।

ईरा—

यह कभी न होगा, यह कभी नहीं हो सकता।

प्रबला—

यह ज़रूर होगा। यह राजपूतनी की प्रतिज्ञा है।

ईरा—

बहन! (नरमी से) वह आदमी तुम्हारा संबन्धी है। तुमसे कुछ न होगा।

प्रबला—

(सोचते हुए) मेरा संबन्धी है, मुझसे कुछ न होगा! ईरा! यह तुमने क्या कहा? बताओ वह कौन है? मेरा पिता?

ईरा—

नहीं।

प्रबला—

मेरा देवर, मेरा भाई?

ईरा—

नहीं।

प्रबला—

तो फिर कौन ? ओह ईरा ! ईरा !! कहो वह कौन है ?

ईरा—

(धीरे से) तुम्हारा पति।

प्रबला—

जो सपने में भी न सोचा था, वह हुआ। मैं समझती थी, मुझे शक्ति से लड़ना होगा। मगर यह आशंका न थी, कि मेरे सामने उनका प्रेम आकर खड़ा हो जायगा। स्त्री बल को जीत सकती है, परन्तु प्रेम और फिर वह भी पति का प्रेम—इससे संग्राम करने की हिम्मत दुनिया के किसी नारी-हृदय में न होगी।

ईरा—

बहन प्रबला ! तुम क्या सोचती हो ? यह पुरुषों के काम हैं, वह आप कर लेंगे।

प्रबला—

मगर ईरा ! महाराज क़ैद हैं। हम लोग हँसते हैं, खेलते हैं, जो चाहते हैं, करते हैं। आज़ादी की हवा में साँस लेते हैं, और वह (ठंडी साँस लेकर) पता नहीं उनका दिल क्या कहता होगा ? (थोड़ी देर बाद) ईरा !

ईरा—

हाँ भाभी !

प्रबला—

मैं तुमसे एक बात और पूछना चाहती हूँ, बताओगी ?

ईरा—

पूछो। मैं तुमसे अब कोई बात न छिपाऊँगी।

प्रबला—

महाराज कहाँ क़ैद हैं ?

ईरा—

इधर आओ। (खिड़की के सामने ले जाकर) वह देखो, सामने एक छोटा सा मकान है, जिसके दरवाज़े पर सिपाही पहरा दे रहा है। महाराज वहीं क़ैद हैं।

प्रबला—

इस मकान में ? मेरे घर के पास ? कदाचित् मुझे पहले पता होता, तो महाराज बहुत दिन पहले छूट चुके होते।

ईरा—

भाभी ! यह काम इतना आसान नहीं, जितना तुम समझ रही हो।

प्रबला—

जब आदमी किसी काम का निश्चय कर ले, तो हर एक कठिनाई डरपोक जानवरों के समान परे भाग जाती है। आज आधी रात के बाद महाराज क़ैदख़ाने में न होंगे। स्त्री स्वाभाविक रूप से विवश होती है ? परन्तु जब कुछ करने पर उतारू हो जाये, तो शेरनी बन जाती है। (प्रस्थान)

ईरा—

कैसी बहादुर स्त्री है ? इस समय उसकी आँखों में कैसी ज्योति थी, मुँह पर कैसा तेज ? मालूम होता था, यह वह प्रबला ही नहीं। अपने पति से इसे बहुत प्यार है। उसका नाम सुनकर बावली हो जाती है। उसके दर्शन से इसकी देह हरी हो जाती है। उसे चाहती है, समस्त हृदय से प्यार करती है, उसके बिना रह नहीं सकती। और अब उसके प्यार से लड़ेगी ! विश्वास नहीं होता। स्त्री का क्रोध पति के प्रेम के सामने सर्द हो जायगा—वह कुछ नहीं कर सकेगी। (प्रस्थान)

(एक तरफ़ से प्रबला सिपाहियों के लिबास में आती है, दूसरी ओर से ज़ोरावरसिंह आता है।)

ज़ोरावरसिंह—

(पहचानकर) यह कौन सिपाही है, जो हमारे घर में आ घुसा है ?

प्रबला—

(मुस्करा कर) मेरा नाम प्रबलसिंह है।

ज़ोरावरसिंह—

तो भाई प्रबलसिंह ! यह तुमने हथियार क्यों पहने हैं ? आज-कल कोई लड़ाई तो नहीं हो रही ? और अगर हो रही है, तो मुझे बता दे, ताकि मैं भी तैयार हो जाऊँ। मैं पीछे न रहूँगा।

प्रबला—

छोटे सिपाही ! क्या तुझे भी लड़ने का शौक़ है ?

ज़ोरावरसिंह—

लो ! जब मैं सिपाही हूँ, तो मुझे लड़ने का शौक़ क्यों न होगा ?

प्रबला —

(कंधे पर हाथ धरकर) मगर तू अभी छोटा है ना, इसलिए।

ज़ोरावर—

तो फिर क्या हुआ ? छोटा काँटा तो ज़्यादा तेज़ होता है।

प्रबला—

(हँसकर) तो छोटे काँटे ! ले सुन !! वह जो सामने मकान दिखाई देता है, उसमें महाराज मूलराज क़ैद हैं।

ज़ोरावर—

अच्छा ! फिर ?

प्रबला—

मैं उन्हें छुड़ाने जा रहा हूँ।

ज़ोरावर—

वहाँ लड़ाई होगी क्या ?

प्रबला—

ज़रूर होगी।

ज़ोरावर—

वहाँ ख़तरा है ?

प्रबला—

होगा !

ज़ोरावर—

और तुमने यह हथियार इसी लिए पहने हैं ?

प्रबला—

हाँ मेरे बहादुर सिपाही ! इसीलिए।

ज़ोरावर—

(गम्भीरता से) तुम्हारे पास तलवार है ? म्यान से बाहर निकालो।

प्रबला—

परन्तु क्यों ?

ज़ोरावर—

पहले अपने पुत्र का सिर काट लो, इसके बाद तुम घर से बाहर पाँव रखना।

प्रबला—

अरे ! यह छोटा सिपाही तो बड़ा बहादुर निकला !

ज़ोरावर—

माँ ! अन्दर जाओ ! यह कपड़े उतार दो। तलवार मुझे दो, तुम्हारी आज्ञा का पालन मैं करूँगा। तुम माँ हो, माँ बन के रहो। लड़ना, मरना हमारा—हम मर्दों का काम है।

प्रबला—

(प्रेम-भरी दृष्टि से देखकर) जीता रह। बेटा! जीता रह; तेरी माँ तुझे आशीर्वाद देती है। मगर अभी तू छोटा है।

ज़ोरावर—

परन्तु मेरा दिल छोटा नहीं है। मैं तुम्हारा पुत्र जीता हूँ, और तुम हथियार पहन कर बाहर निकलो, यह मुझसे सहन न होगा। (तलवार छीन कर) यह मुझे दो, और तुम अंदर जाकर बैठो। अभी राजपूत इतने निर्लज्ज नहीं हुए—अभी ज़ोरावरसिंह, तेरा बेटा जीता है।

प्रबला—

आग की ज्वाला को जलना किसने सिखाया है? सिंह के बच्चे को बहादुरी का पाठ कौन पढ़ाता है? मेरा पुत्र जन्म का सूरमा है, मैं धन्य हूँ। मेरा दूध सफल हुआ। बेटा जा, यह तेरी पहली परीक्षा है। विजय-पताका लहराता हुआ वापिस आ।

ज़ोरावर—

(एकाएक उदास होकर) मगर माँ!

(ज़ोरावरसिंह सिर झुका लेता है।)

प्रबला—

क्यों बेटा! तू उदास क्यों होगया?

ज़ोरावर—

वह जो पहरेदार है ना, मैं उसे तो मार गिराऊँगा, पर जब पिताजी सामने आजायँ, तो फिर क्या करूँ?

प्रबला—

उनकी न सुनना।

ज़ोरावर—

माँजी ! वह पिता हैं।

प्रबला—

और मैं माँ हूँ। तुझे मैंने पाला है। तुझे मैंने खिलाया है। तेरे लिए दुःख मैंने सहे हैं। इस समय तेरे हाथ में तलवार मैंने दी है।

ज़ोरावर—

और यदि वह लड़ने को तैयार हो जायं, तो फिर ?

प्रबला—

यही तलवार उनके सीने में घोंप देना।

ज़ोरावर—

माँ—

प्रबला—

बस, बस ! मैं और कुछ नहीं सुनना चाहती। यह मेरी आज्ञा है, तुझे इसका पालन करना होगा। नहीं तो मैं तुझे शाप दूँगी; और माँ के शाप से बचानेवाली शक्ति इस असार संसार में कहीं नहीं।

ज़ोरावर—

बहुत अच्छा ! पुत्र माँ की आज्ञा का पालन करेगा। मगर माँ सोच ले, तेरा हुक्म—

प्रबला—

बेटा ! वह तेरे ही पिता नहीं, मेरे भी कुछ हैं। उनके दुःख से मुझे भी दुःख होता है। स्त्री के हृदय में पति की जो श्रद्धा होती है, और होनी चाहिए, उससे मैं वंचित नहीं हूँ। परन्तु राजा के जो अधिकार प्रजा पर हैं, मैं उनकी तरफ़ से भी आँखें बन्द नहीं कर सकती। भारत-ललना पति पर निछावर हो सकती है, पुत्र के लिए सारा जीवन दुःख में बिता सकती है। परन्तु अपने राजा के लिए जो स्त्री अपना सर्वस्व नहीं छोड़ सकती वह देश से विद्रोह करती है—और यह पाप मुझसे कभी न होगा। यह मेरे स्वभाव में नहीं है।

ज़ोरावर—

और अगर पिताजी मेरे हाथ से—

प्रबला—

(काँपकर) उस समय भी मैं अपना धर्म्म न छोड़ूँगी, और उनके साथ सती हो जाऊँगी। यह प्रजा का धर्म्म है, वह पत्नी का धर्म होगा।

ज़ोरावर—

मेरी माँ कितनी बहादुर, कैसी निर्भय है ? उसके पुत्र का मुक़ाबला करना आसान नहीं। माँ ! तुम यह कपड़े उतार दो, महाराज मूलराज को मैं छुड़ाऊँगा।

(ज़ोरावरसिंह तलवार खींच कर चला जाता है।)

प्रबला—

परमात्मा ! मेरे स्वामी की और मेरे पुत्र की रक्षा कर, मैं और कुछ नहीं चाहती।

—:०:—

दूसरा दृश्य

राजकुमार रायसिंह का महल।

समय—वही संध्या।

(अनूपसिंह और रायसिंह बातें कर रहे हैं।)

रायसिंह—

मेरे ख़याल में यह आपकी भूल है।

अनूपसिंह—

नहीं, यह मेरी भूल नहीं है। जब आपने मन्त्री पर आक्रमण किया था, तो महाराज की आँखें अग्निमय हो गई थीं। इसके बाद जब मन्त्री ने महाराज के पीछे छिपकर जान बचाने की चेष्टा की, उस समय भी महाराज ने उसकी रक्षा की थी। और यदि आपकी तलवार ज़रा भी इधर-उधर हो जाती, तो मंत्री की जगह वह आप मारे जाते।

रायसिंह—

यह सब सच है। मगर जब मंत्री क़त्ल हो चुका है, उसके सहायक अपनी जान छिपाते फिरते हैं, और उसकी कोई चर्चा नहीं करता, तो अब महाराज को क़ैद रखना निष्फल है।

अनूपसिंह—

महाराज के छूटते ही मुक़दमा शुरू हो जायगा और हर व्यक्ति को जो इस मामले में शामिल था, दण्ड मिलेगा। और यह ऐसी बात है, जिससे सोता हुआ झगड़ा फिर जाग उठेगा।

रायसिंह—

मगर महाराज को इससे क्या लाभ होगा?

अनूपसिंह—

इस बारे में मैं कुछ नहीं कह सकता, परन्तु राज-दरबार के सारे सरदारों का यही ख़्याल है।

रायसिंह—

यह उनकी भूल है। महाराज ऐसा कभी न करेंगे।

अनूपसिंह—

ख़ुद आप भी इस ख़तरे से बाहर नहीं।

रायसिंह—

मैं! (आश्चर्य्य से) मैं! क्या महाराज मुझे भी दण्ड देंगे? सेनापति! यह तुम क्या कह रहे हो?

अनूपसिंह—

जो कह रहा हूँ, ठीक कह रहा हूँ। मैं उनका स्वभाव अच्छी तरह जानता हूँ।

रायसिंह—

पिता अपने पुत्र को दण्ड देगा? (सोचकर) नहीं, यह नहीं होगा, यह नहीं हो सकता।

अनूपसिंह—

यह हो सकता है, यह ज़रूर होगा।

रायसिंह—

सेनापति ! वे मुझे बहुत चाहते हैं—मैं उनका बेटा हूँ।

अनूपसिंह—

परन्तु वे महाराज हैं, और महाराज जब न्याय के सिंहासन पर बैठते हैं, तो उनकी आँखों में अपना पराया सब एक समान होता है।

रायसिंह—

और मैंने मंत्री को अपने हाथ से क़त्ल किया है।

अनूपसिंह—

इसलिए सबसे अधिक भय आप ही को है, और आप ही का ख़याल है, जो मेरा रस्ता रोक लेता है, नहीं तो मैं ज़रूर यत्न करता, कि महाराज बहुत जल्द छूट जायँ।

रायसिंह—

(चिन्तित भाव से) तो इसका यह अर्थ है कि महाराज—

अनूपसिंह—

अभी कुछ देर और क़ैद रहें।

रायसिंह—

पर कितनी देर ? आख़िर कोई हद होनी चाहिये। तीन महीने बीत चुके हैं, मैं बाहर, स्वाधीन हूँ, और वे क़ैदख़ाने में... ... (आँखें सजल हो जाती हैं।)

अनूपसिंह—

वे बूढ़े हैं। उन्होंने बहुत शासन कर लिया है अब—

रायसिंह—

(बात काटकर) सेनापति! ज़रा सोच समझ कर! पिता के सम्बन्ध में कोई ऐसा कटु वचन न कह जाना, जिसे पुत्र का गर्म लहू सहन न कर सके।

अनूपसिंह—

मेरा अभिप्राय यह था, कि अब वह शासन का भार स्वयं आपके कंधों पर रख देंगे।

रायसिंह—

(कुछ सोचने के बाद एकाएक चौंककर) देखिए, मैंने निश्चिय कर लिया है, चाहे कुछ भी क्यों न हो जाय, महाराज आज आज़ाद हो जायँगे। वे मेरे पिता हैं—मैं उनके हाथ से हर एक सज़ा भुगतने को तैयार हूँ।

अनूपसिंह—

मगर हम, आपके सेवक यह कैसे देख सकेंगे? महाराज! कुछ सोचिए।

रायसिंह—

सब सोच चुका।

अनूपसिंह—

देश में फ़साद हो जायगा।

रायसिंह—

मैं तलवार लेकर पहले फ़साद मिटाऊँगा, फिर महाराज को सिंहासन पर बैठा कर अभियुक्त के समान उनके सामने हाज़िर हो जाऊँगा।

अनूपसिंह—

यह आप क्या कह रहे हैं ?

रायसिंह—

वे मेरे पिता हैं, मैं उनका पुत्र हूँ। उनकी क़ैद का ख़याल मुझे हर समय दुःखी रखता है। कहिए ! वह कहाँ क़ैद हैं, मैं अभी जाकर उनको बाहर लाता हूँ। मुझे राजसिंहासन, ताज, शासन और किसी वस्तु की कोई इच्छा नहीं, मुझे केवल उनका ख़याल है।

अनूपसिंह—

तो आपने यही निश्चय किया है ?

रायसिंह—

यही ! मैं और कोई युक्ति नहीं सुनना चाहता।

अनूपसिंह—

बहुत अच्छा ! महाराज कल क़ैदख़ाने से बाहर होंगे।

रायसिंह—

सारे सरदारों से कह दो, कि उनके स्वागत के लिए तैयार हो जायँ। मैं उनके क्रोध की अग्नि को प्रेम और विनय के ठण्डे जल से सर्द कर दूँगा।

अनूपसिंह—

सारे सरदार कल इस समय से पहले पहले जैसलमेर से बाहर चले जायँगे।

रायसिंह—

आप उनको रोकिये।

अनूपसिंह—

मैं स्वयं उनके साथ हूँगा।

रायसिंह—

(खड़े होकर) यहाँ तक मजाल!

अनूपसिंह—

यहाँ पुराना महाराजा आएगा, पर पुराने सरदारों में से एक भी न होगा।

रायसिंह—

आप मुझे धमकाना चाहते हैं!

अनूपसिंह—

मैं यह शब्द कभी न कहूँगा। मैं आपका सेवक हूँ।

रायसिंह—

जैसलमेर रहे, या नष्ट हो जाय, मगर महाराज कैद न रहेंगे। बोलो! वे कहाँ कैद हैं?

अनूपसिंह—

वे कल संध्या के समय आज़ाद होंगे।

रायसिंह—

मैं कल तक प्रतीक्षा नहीं कर सकता। बोलो वे कहाँ क़ैद हैं ?

अनूपसिंह—

यह मुझसे इस समय न पूछिए।

रायसिंह—

(एक एक शब्द पर ज़ोर देकर) बताओ। वे कहाँ क़ैद हैं ? मैं जैसलमेर का महाराजा तुम्हें हुक्म देता हूँ ।

अनूपसिंह—

महाराज.....।

रायसिंह—

क्या ? नहीं ? तुम इनकार करते हो ? अब जैसलमेर का महाराजा अपने नौकरों के हाथ में कठपुतली बन कर रहेगा ? ओह ! यह नहीं सहा जाता। सेनापति !

अनूपसिह—

महाराज ! यह (तलवार फेंक कर) तलवार लीजिए, और मेरा सिर काट दीजिए।

रायसिंह—

मगर तुम यह न बताओगे, कि महाराज कहाँ हैं ?

अनूपसिंह—

जब तक सारे सरदार जैसलमेर की सीमा से बाहर नहीं निकल जाते, उस समय तक उस जगह का पता आकाश के देवताओं को भी न लगेगा। यह असम्भव है।

रायसिंह—

क्या मतलब ?

अनूपसिंह—

हमने षड़यन्त्र किया था, और यह अपराध है। परन्तु अब उससे भी बड़ा अपराध न करूँगा। मैंने उनसे प्रतिज्ञा की थी, कि महाराज के छूटने से पहले उन्हें सूचना देकर बचाव का मौक़ा दे दूँगा, और मैं इसे पूरा करूँगा। प्राण दूँगा, प्रण न दूँगा।

रायसिंह—

बहुत अच्छा ! कल ही सही.....तो अब आप जा सकते हैं।

अनूपसिंह—

राजकुमार की जय हो ! (अनूपसिंह सिर झुका कर चला जाता है।)

रायसिंह—

सब सरदार चले जायँगे, सेनापति भी चला जाएगा, तो जैसलमेर का क्या बनेगा ? ख़ैर देखा जायगा। कदाचित् मुझे मालूम हो जाये, कि महाराज कहाँ क़ैद हैं तो जैसलमेर इस विपत्ति से, इस विनाश से बच सकता है। सरदारों को भय है कि महाराज उनको सख़्त सज़ायें देंगे। उन्होंने महाराज की सेवा में अपने सिर के बाल सफ़ेद किये हैं, परन्तु उनके स्वभाव को आज तक नहीं पहचाना। अगर पहचानते, तो

आज यह कठिनाई मेरे सामने उपस्थित न होती। यदि किसी तरह मुझे मालूम हो जाय, कि वे कहाँ क़ैद हैं, तो मैं अभी जाकर उन्हें रिहा कर दूँ। कोई मुझे बता दे, कोई मुझे पता दे, मैं उसे मुह-माँगा इनाम देने को तैयार हूँ। कौन ?

(एकाएक प्रबला सिपाहियों के वेष में प्रवेश करती है।)

प्रबला—

आपकी तुच्छ प्रजा—जैसलमेर की एक स्त्री।

रायसिंह—

(पहचान कर) माता प्रणाम ! आप इस तरह—

प्रबला—

मैं तुम्हें वह जगह बता सकती हूँ।

रायसिंह—

जहाँ महाराज बन्द हैं ?

प्रबला—

मगर मैं मुँह-माँगा इनाम लूँगी।

रायसिंह—

मैं सब कुछ दूँगा।

प्रबला—

तो, उठो ! हथियार पहनो, और मेरे महल के सामने जो छोटा सा मकान है, उसके दरवाज़े पर पहुँच जाओ।

रायसिंह—

वहाँ क्या है ?

प्रबला—

ज़ोरावरसिंह कुछ सिपाहियों को साथ लेकर वहाँ गया है, ताकि महाराज को छुड़ा लाये। मगर वह अभी छोटा है; मैं उसकी सहायता को जा रही हूँ।

रायसिंह—

मगर सेनापति—

प्रबला—

(बात काट कर) शायद उनकी तलवार अपने पुत्र और पत्नी के विरुद्ध न उठेगी।

रायसिंह—

माता ! तू अपने आपको ख़तरे के मुँह में डाल रही है।

प्रबला—

राज-भक्ति बच्चों का खेल नहीं है।

रायसिंह—

परन्तु सम्भव है कि—

प्रबला—

मैं महाराज के लिए सब कुछ निछावर कर देने को तैयार हूँ।

रायसिंह—

कितने पवित्र भाव हैं।

प्रबला—

बेटा ! बातों में समय न खो, उठ, हथियार पहन, और जितने सिपाही तेरे साथ आ सकें, उनको लेकर वहाँ पहुँच जा। इस समय एक एक क्षण अनमोल है। (प्रस्थान)

रायसिंह—

कितनी बहादुर स्त्री है ! मगर वह क्या इनाम है, जिसे जीतने के लिए यह अपने पति की भी परवा नहीं करती। कहीं वह—मगर नहीं, वह नेक है। उसके मुँह पर पाप की ज़रा भी छाया नहीं। और यह फिर देखा जायगा, इस समय मुख्य काम महाराज को छुड़ाना है।

(तेज़ी से चले जाते हैं।)

—:o:—

तीसरा दृश्य

स्थान-बन्दीगृह ।

समय—वही सन्ध्या।

बंदीगृह के संरक्षक और ज़ोरावर के सिपाही लड़ रहे हैं। अनूपसिंह हथियार पहने आता है, और यह दृश्य देख कर चौंक उठता है।

अनूपसिंह—

यह कौन है, जिसने इतना साहस किया है ? जैसलमेर के सूरमा सिपाहियो ! तुम्हारे देश को अभी तुम्हारी आवश्य-

कता है, अपने आपको घर की फूट में नष्ट न करो, और तलवारें झुका लो।

एक सिपाही—

हम अपने सरदार के सिवा और किसी का कहना न मानेंगे।

अनूपसिंह—

पर तुम्हारा सरदार कौन है ?

(ज़ोरावरसिंह का तलवार लिये हुए प्रवेश।)

सिपाही—

हमारे सरदार यह हैं !

अनूपसिंह—

कौन ज़ोरावरसिंह ? यह सिपाही कहाँ से लिये ?

ज़ोरावरसिंह—

राजकुमार ने भेजे हैं।

अनूपसिंह—

मगर तुम यहाँ क्या करना चाहते हो ?

ज़ोरावरसिंह—

यहाँ महाराज मूलराज क़ैद हैं।

अनूपसिंह—

हैं, फिर ?

ज़ोरावरसिंह—

वे जैसलमेर के राजा हैं।

अनूपसिंह—

तो

ज़ोरावरसिंह—

मैं उन्हें छुड़ाने आया हूँ।

अनूपसिंह—

क्या बकते हो तुम ? वह समय गया, जब वे महाराज थे।

ज़ोरावरसिंह—

वे महाराजा थे, और फिर महाराजा हो जायँगे।

अनूपसिंह—

तुम्हारी यह मजाल ? पीछे हट जाओ।

ज़ोरावरसिंह—

मुझे रोकने की शक्ति किसमें है ? सिपाहियो ! इन्हें परे हटा दो।

अनूपसिंह—

सावधान ! मेरे निकट कोई न आए, मैं सेनापति हूँ।

ज़ोरावरसिंह—

नहीं, इन्होंने महाराज को क़ैद किया है। सिपाहियो ! तुम्हारे महाराज को इन्होंने क़ैद किया है। मैं उन्हें छुड़ाने आया हूँ। तुम इन्हें परे हटा दो।

अनूपसिंह—

कमीने-गुस्ताख़ लड़के ! ज़रा सँभल कर बोल, मेरा क्रोध न जगा। तू कहाँ जा रहा है ?

ज़ोरावरसिंह—

मैं महाराज की बेड़ियाँ काट कर उन्हें बाहर लाऊँगा अब वे क़ैद न रहेंगे।

(ज़ोरावरसिंह अंदर जाने को तैयार होता है।)

अनूपसिंह—

दरवाज़े के पास न जा, वहाँ तेरी मृत्यु खड़ी है।

ज़ोरावरसिंह—

पिताजी! राजपूत का बेटा मृत्यु को बिल्ली का बच्चा समझता है। मैं उसके साथ बाल्यावस्था से खेलता आया हूँ। मुझे मृत्यु के नाम से डराने का यत्न न कीजिए, मुझे मृत्यु की ज़रा परवा नहीं।

अनूपसिंह—

आगे न बढ। तुझे पछताना पड़ेगा।

ज़ोरावरसिंह—

यह असंभव है। मैं अंदर जाऊँगा, मुझे कोई नहीं रोक सकता।

अनूपसिंह—

और अगर कोई रोके, तो फिर?

ज़ोरावरसिंह—

उसकी भी वही दशा होगी, जो उस पहरेदार की हो चुकी है।

अनूपसिंह—

(लाश को देख कर) तो तुमने उसे क़त्ल कर दिया?

ज़ोरावरसिंह—

उसने मेरा रस्ता रोका था, और अब भी जो मेरे सामने आयेगा, मैं उसे क़त्ल कर दूँगा।

अनूपसिंह—

तुम्हारे सामने मैं आऊँगा।

ज़ोरावरसिंह—

और मेरे हाथ में अब भी तलवार है। मैं—

अनूपसिंह—

मालूम होता है तेरी मौत आ गई है। अब मैं क्या कर सकता हूँ ?

(अनूपसिंह और ज़ोरावरसिंह तलवारें खींच लेते हैं। सिपाही चुप-चाप खड़े हैं। पिता-पुत्र में लड़ाई छिड़ा ही चाहती है, कि प्रबला सिपाहियों के वेष में दाख़िल होती है और पिता-पुत्र के बीच में खड़ी हो जाती है।)

प्रबला—

पिता की तलवार पुत्र का लहू पियेगी, और संसार देखेगा। परन्तु वह अभी बच्चा है और जब तक मैं जीती हूँ, यह नहीं हो सकता।

अनूपसिंह—

कौन ? प्रबला !

प्रबला—

जैसलमेर की एक राज-भक्त बेटी।

अनूपसिंह

यहाँ क्यों आई हो ?

प्रबला—

इस अबोध बालक की सहायता और रक्षा के लिए।

अनूपसिंह—

प्रबला ! प्रबला ! ! क्या तू जानती है, तू कौन है ?

प्रबला—

मैं घर में प्रबला हूँ, और आपकी स्त्री, आपकी दासी हूँ। परन्तु यहाँ जैसलमेर की बेटी और केवल बेटी हूँ, और महाराज को छुड़ाने आई हूँ। कोई धमकी, कोई प्रेम, कोई लोभ मुझे इस स्थान से न हटा सकेगा। और इस समय या वे क़ैदख़ाने से बाहर होंगे, या पहले मेरी, और मेरे बाद मेरे बेटे की लाशें फड़कती दिखाई देंगी।

अनूपसिंह—

तू मेरे सामने आज तक कभी इस तरह न बोली थी।

प्रबला—

हर समय का धर्म अलग अलग है। मुझे आपने आज तक स्त्री के रूप में, माँ के रूप में, बहन के रूप में देखा है। मगर इस समय मैं सिपाही हूँ, और मेरी देह का एक एक परमाणु इसी रंग में रँगा हुआ है। मैं इस समय का सिपाही उस घर की प्रबला से बहुत भिन्न, बहुत दूर हूँ। ज़ोरावर ! जा, मकान के अंदर जा और

महाराज को स्वाधीन कर। यह सम्मान तुझी को प्राप्त होना चाहिए।

अनूपसिंह—

ठहर, मूर्ख लड़के ! ठहर, तू आगे न बढ़ सकेगा।

प्रबला—

(अनूपसिंह का रस्ता रोक कर) वह बढ़ेगा, उसे कोई नहीं रोक सकता।

(ज़ोरावरसिंह तलवार खींचकर चला जाता है।)

अनूपसिंह—

(आश्चर्य्य से) प्रबला ! मुझे जाने दो।

प्रबला—

आपको मेरी लाश पर से गुज़रना होगा।

अनूपसिंह—

तू मेरा अपमान कर रही है।

प्रबला—

मैं विवश हूँ, मैं इसके सिवा कुछ नहीं कर सकती। आप यत्न न करें।

अनूपसिंह—

तूने आज तक मेरी हर एक बात सिर झुका कर स्वीकार की है।

प्रबला—

(सिर झुका कर) और आगे को भी करूँगी।

अनूपसिंह—

मगर इस समय ?

प्रबला—

(तन कर) इस समय मुझे यहाँ से कोई नहीं हटा सकता।

अनूपसिंह—

मेरा हुक्म भी नहीं ?

प्रबला—

आपका हुक्म भी नहीं।

अनूपसिंह—

यह तू क्या कह रही है ? तू मेरी स्त्री है।

प्रबला—

मैं इस समय कुछ भी नहीं हूँ, केवल जैसलमेर की एक बेटी हूँ, और मेरा महाराजा, मेरी जाति का सिरमौर कैद है। मैं उसे छुड़ाने आई हूँ।

अनूपसिंह—

और मैं ?

प्रबला—

घर में मेरे स्वामी हैं परन्तु यहाँ आपमें और अन्य राज-विद्रोहियों में कोई भेद नहीं है।

अनूपसिंह—

मैंने विद्रोह किया है ?

प्रबला--

ज़रूर किया है। अन्यथा महाराज यहाँ क़ैद न होते, मैं इस वेष में न होती, आपको इन शब्दों से सम्बोधन न करती।

अनूपसिंह—

प्रबला ! तुझे मालूम है, जब महाराज छूट जायँगे, तो क्या होगा ?

प्रबला—

क्या होगा ?

अनूपसिंह—

मुझ पर अभियोग चलेगा, मुझे दंड दिया जायगा।

प्रबला--

साधारण बात है।

अनूपसिंह—

मेरा क़सूर बहुत बड़ा है। शायद मुझे फाँसी का दंड मिले।

प्रबला--

(काँपती है, मगर फिर साहस करके) साधारण बात है। राजपूत मौत को खेल समझते हैं।

अनूपसिंह—

तू उस समय भी राज-भक्ति के नशे में चूर रहेगी ? तुझे मेरा ख़याल न आयेगा ?

प्रबला—

हर समय का धर्म्म जुदा है। उस समय भी मैं अपना धर्म्म न छोड़ूँगी।

अनूपसिंह—

खुश होगी, मुझे मरते देखकर महाराज की जय जयकार बुलायेगी। वाह वा सती साध्वी स्त्री! नारी-धर्म्म की महत्ता को तूने खूब समझा है। अपने पति को मरते देखेगी, और सामने खड़ी होकर चुप-चाप हँसेगी।

प्रबला—

उस समय मेरा धर्म्म मुझे आग की ज्वाला पर बुला लेगा। मैं.....(आँखों में आँसू भरकर) जल मरूँगी।

अनूपसिंह—

सती होगी?

प्रबला—

कोई पतिव्रता स्त्री पति के बाद दुनिया में नहीं रह सकती।

अनूपसिंह—

मगर इस समय मेरे रस्ते में खड़ी हो, मुझसे लड़ती हो, मेरी बात नहीं मानती हो?

प्रबला—

यह प्रजा का धर्म्म है।

अनूपसिंह—

और उस समय मेरे साथ जल मरने को तैयार हो जाओगी?

प्रबला—

वह स्त्री का धर्म्म होगा।

अनूपसिंह—

प्रबला! तू नारी नहीं नारी-रत्न है। मैंने तुझे आज तक न पहचाना था। तूने मेरी आँखें खोल दी हैं, मुझे धर्म्म की दुनिया का रस्ता दिखा दिया है।

प्रबला—

मैं एक सामान्य स्त्री हूँ, मैं क्या कर सकती हूँ। धर्म्म की विवेचना बड़ी कठिन है।

अनूपसिंह—

मैं धन्य हूँ, जिसे तेरे जैसी सच्ची स्त्री मिली। मेरा पुत्र धन्य है, जिसे तेरी जैसी वीरात्मा माँ मिली। जैसलमेर धन्य है, जिसने तेरी जैसी धर्म्म-परायण पुत्री को जन्म दिया।

(रायसिंह का घबराये हुए प्रवेश।)

प्रबला—

क्यों राजकुमार! तुम घबराये हुए हो?

रायसिंह—

शहर में लोग मरने मारने को तैयार हैं।

प्रबला—

मरने मारने को?

रायसिंह—

सारे सरदार तलवारें लिये मुक़ाबिला करने आ रहे हैं।

अनूपसिंह—

कोई चिन्ता नहीं, मैं और मेरी सेना अभी जीती है।

रायसिंह—

सेना-पति !

अनूपसिंह—

निश्चिन्त रहो। मैं सबको ठीक कर लूँगा।

रायसिंह—

तो नर-हत्या होगी ?

अनूपसिंह—

नर-हत्या की अपेक्षा न्याय-हत्या अधिक भयानक है। परन्तु मैं रक्त-पात के बिना ही यह आग ठंढी कर दूँगा। प्रबला ! मैं उधर जाता हूँ। इधर का ख़याल रखना तेरा काम है। (अनूपसिंह तलवार खींचकर चला जाता है।)

रायसिंह—

(श्रद्धा-भाव से) माता ! मालूम होता है, यह भी तेरा ही काम है। भावी संतान तुझे नमस्कार करेगी। तेरा श्रीनाम लेकर भारत-वासियों की जीभ पवित्र हो जायगी।

(महाराज मूलराज और ज़ोरावरसिंह बाहर निकलते हैं। सारे सिपाही, रायसिंह और प्रबला नमस्कार करते हैं।)

महाराज—

प्रबला कहाँ है ? उसे हमारे सामने लाओ ! (प्रबला आगे बढ़कर सिर झुकाती है।) तू प्रबला है। तू हमारे सामने सिर

न झुका, तेरे सामने हम सिर झुकाते हैं। तू नेक है, तू बहादुर है, और सबसे बढ़कर यह कि तू अपने धर्म्म को समझती है हम तेरे आगे सिर झुकाते हैं। तूने हमें क़ैद से छुड़ाया है।

प्रबला—

महाराज! आप मेरे राजा हैं। आप मेरे सम्मुख सिर न झुकायें, यह अनुचित है। मैंने कुछ नहीं किया, केवल अपने धर्म्म का पालन किया है।

महाराज—

केवल धर्म्म का पालन किया है, बेटी! तूने सब कुछ किया है। धर्म्म में सब कुछ आ जाता है। हम तुझसे बहुत प्रसन्न हैं, हम तुझे मुँह-माँगा इनाम देंगे।

प्रबला—

(राजकुमार को पेश करके) राजकुमार को आशीर्वाद दीजिए।

महाराज—

गुस्ताख़, ख़ूनी, हत्यारा! हम इसे सज़ा देंगे। तू देवी है, इस नर-पिशाच की सिफ़ारिश न कर। तूने स्त्री होकर अपना धर्म्म नहीं छोड़ा, हम मर्द होकर अपना धर्म्म कैसे छोड़ देंगे? नहीं! हम इसे सज़ा देंगे। यह हमारा लड़का है, पर हम फिर भी सज़ा देंगे।

रायसिंह—

मैं हर सज़ा के लिए हाज़िर हूँ।

प्रबला—

मगर यह निर्दोष है, आपको छुड़ाने के लिए हर समर्थ यत्न करता था।

महाराज—

और मंत्री का क़त्ल ? इसका क्या जवाब है ?

प्रबला—

यह सिद्ध कर दिया जायगा कि वह देश और जाति का दुश्मन था, और इतना ही नहीं, वह मनुष्यत्व का कलंक था। उसको क़त्ल करके राजकुमार ने जैसलमेर का उपकार किया है।

महाराज—

अगर यह सिद्ध हो जायं, तो हम राजकुमार को क्षमा कर देंगे। परन्तु बेटी प्रबला ! तूने हम पर बड़ा उपकार किया है। यदि तू यत्न न करती, तेरा नन्हा बालक आगे न बढ़ता, तो हम वहीं क़ैद में सड़ सड़ कर मर जाते, और हमें बाहरी जगत की धूप और प्रकाश दोनों देखने का सुअवसर न मिलता। हम तेरे ऋणी हैं।

प्रबला—

आप मेरे महाराज हैं।

महाराज—

निस्संदेह हम महाराज हैं। इसलिए जब तक तेरा ऋण

न चुका लेंगे, यहाँ से पांव भी न उठाएंगे। बेटी! मुझसे अपनी कोई इच्छा बयान कर, मैं उसे पूरी कर दूँगा।

(अनूपसिंह और दरबार के सरदार हाज़िर होकर सिर झुकाते हैं।)

महाराज—

कौन! अनूपसिंह! हट जा, हम तेरा सलाम नहीं लेते। हम तुझ पर मुक़दमा चलायेंगे। तू विद्रोही है, तूने हमें कैद किया था।

रायसिंह—

मगर यह सारे सरदार शहर की ईंट से ईंट बजा देते, यदि यही सूरमा सीना तानकर इनके सामने न खड़ा हो जाता। इन्होंने अपने पाप का प्रायश्चित्त कर लिया है।

महाराज—

क्या यह सत्य है?

सरदार—

(एक स्वर से) अक्षरशः सत्य है।

महाराज—

तो हमने तुम्हें क्षमा किया।

प्रबला—

महाराज की जय हो।

महाराज—

(एकाएक सिर झुका कर) सेनापति!

अनूपसिंह—

महाराज !

महाराज—

तुम्हारे सिपाही कहाँ हैं ?

अनूपसिंह—

बाहर मैदान में खड़े श्रीमान्‌जी के दर्शन करने की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

महाराज—

इनको हुक्म दो, कि इन सरदारों को गिरिफ़्तार कर लें। ये विद्रोही हैं।

अनूपसिंह—

(हाथ बाँध कर) महाराज !—

महाराज—

चुप रहो ! हम कुछ न सुनेंगे। हम इन्हें सज़ा देंगे।

अनूपसिंह—

श्रीमान् !

महाराज—

हमने तुम्हें क्षमा किया है, इन्हें क्षमा नहीं किया।

अनूपसिंह—

मगर मैं इन्हें कैसे गिरिफ़्तार कर सकता हूँ। इन्होंने मेरी बात सुनी है, मेरा कहा माना है, और अब—नहीं महाराज ! यह मुझसे नहीं हो सकता, यह मुझसे नहीं होगा।

महाराज—

तुम सच्चे सूरमा हो, तुमको अपने वचन का ख़याल है। हम तुमसे ख़ुश हैं। मगर इनको सज़ा ज़रूर मिलेगी। बेटी प्रबला!

प्रबला—

महाराज!

महाराज—

तुम सिपाहियों को हमारी ओर से हुक्म दो, कि इन सबको गिरिफ़्तार कर लें। हम उनको सज़ा देंगे। इससे पहले भी जो काम तुम्हारे पति से नहीं हुआ, वह तुमने किया है। अब भी यह काम उससे नहीं हुआ, तुम करो।

प्रबला—

जो आज्ञा! (प्रबला बाहर चली जाती है।)

महाराज—

अनूपसिंह!

अनूपसिंह—

महाराज!

महाराज—

इन पर मुक़दमा चलेगा, और इन्हें सज़ा मिलेगी। हम जैसलमेर के राजा हैं, हम न्याय करेंगे।

(सिपाही आकर सरदारों को गिरिफ़्तार कर लेते हैं। महाराज चलने को तैयार होते हैं। प्रबला रस्ता रोक लेती है।)

प्रबला—

महाराज ! मेरा मुँह-माँगा इनाम ?

महाराज—

ठीक है, हम भूल गये थे। हमें याद न रहा था। माँगो, क्या माँगती हो ?

प्रबला—

मेरी इच्छा पूरी होगी ?

महाराज—

ज़रूर होगी।

प्रबला—

मैं जो चाहूँ, माँग सकती हूँ ?

महाराज—

बड़ी ख़ुशी से।

प्रबला—

तो मेरी इच्छा यह है, कि इन सब सरदारों को.....

महाराज—

(बात काटकर) नहीं, नहीं, यह नहीं होगा। कोई अपनी इच्छा कहो, कोई वस्तु अपने लिए माँगो। मगर इन विद्रोहियों के लिए, देश के इन दुश्मनों के लिए कुछ न कहो। इन्होंने राज्य का अपराध किया है।

प्रबला—

मेरी इच्छा केवल यह है कि इन सबको क्षमा कर दिया जाय।

महाराज—

यह नहीं हो सकता, और जो चाहो, माँग लो। कहो तो तुम्हारे पति को मंत्री बना दें ?

प्रबला—

नहीं।

महाराज—

जागीर दे दें ?

प्रबला—

नहीं।

महाराज—

बेटी प्रबला ! हठ न कर। इसके सिवा और कोई चीज़ माँग ले।

प्रबला—

मैं इसके सिवा और कुछ भी नहीं चाहती।

महाराज—

वे विद्रोही हैं।

प्रबला—

.....पर हारे हुए।

महाराज—

हमारे दुश्मन हैं।

प्रबला—

.....पर अब क्षमा चाहते हैं, अपनी ग़लती के लिए

लज्जित हैं। इसलिए कृपा करके इनको क्षमा कर दिया जाय, देश में शान्ति हो जायगी। दया से बढ़कर दूसरा और कोई दंड नहीं।

महाराज—

(निरुत्तर होकर) तेरे सामने कौन ठहर सकता है। जा हमने इन्हें क्षमा कर दिया। सेनापति! जाकर सबको छोड़ दो।

प्रबला—

महाराज की जय हो। पहले आपने इनके शरीर जीते थे, अब दिल भी जीत लिये।

महाराज—

बेटी! यह सब तेरा ही पुण्य-प्रताप है। आज संध्या के दो घंटों में यह तीसरा काम है, जो तेरे पति से नहीं हुआ, और तुझसे हो गया है। अनूपसिंह! इस अनमोल हीरे की क़द्र कर, अपने आपको इसके योग्य बना। इस पर जैसलमेर को सदा मान रहेगा।

(महाराज का, सिपाहियों का, और रायसिंह का चले जाना।)

ज़ोरावरसिंह—

(प्रबला के पास जाकर) अब मेरी एक प्रार्थना है।

प्रबला—

(हँस कर) क्या ?

ज़ोरावरसिंह—

आपने महाराज का काम किया, उन्होंने आपको मुँह-

माँगा-इनाम दिया। मैंने आपकी आज्ञा का पालन किया, मुझे क्या इनाम मिला ?

प्रबला—

तुम मुझसे इनाम माँगो, मैं दूँगी।

ज़ोरावरसिंह—

जो माँगूँगा, मिलेगा ?

प्रबला—

ज़रूर मिलेगा।

ज़ोरावरसिंह—

कहो, प्रतिज्ञा की।

प्रबला—

(हँस कर) प्रतिज्ञा की।

अनूपसिंह—

बेटा ! ज़रा सोचकर ! कोई अच्छी सी चीज़ माँगना। इन्हें भी याद रहे किसी ने कुछ माँगा था।

प्रबला—

पिता-पुत्र मिलकर मुझे लूट लो।

ज़ोरावरसिंह—

नहीं मैं इस समय अपनी माँ को कभी न भूलूँगा।

प्रबला—

तो माँगो, क्या माँगते हो ?

ज़ोरावरसिंह—

बात यह है कि आजकल हमारे घर में एक सिपाही प्रबल-सिंह आ घुसा है, और उसने मेरी माँ को घर से निकाल दिया है। मेरी इच्छा यह है कि तुम चलकर उसको बाहर निकाल डालो, मेरी माँ घर आजायगी। (माँ की ओर देखकर मुसकराता है)

अनूपसिंह—

वाह वा! क्या कहना!! मेरी भी यही इच्छा है, कि मेरे घर में कोई दूसरा सिपाही न रहने पाये।

प्रबला—

डाह होता है क्या आपको?

अनूपसिंह—

और क्यों न हो? कौन पुरुष है जो इस रोग से बचा है। मैं भी पुरुष हूँ।

ज़ोरावरसिंह—

(माँ से) क्यों जी! मेरा इनाम मुझे मिलेगा या जाकर महाराज से फ़रियाद करूँ?

प्रबला—

नन्हें गुस्ताख़! मुझसे तेरी यह इच्छा पूर्ण न हो सकेगी। जा, जाकर महाराज से कह, तेरी इच्छा वही पूरी करेंगे।

ज़ोरावरसिंह—

यह बात है, तो लो मैं यह गया।

(अनूपसिंह के सामने जाकर खड़ा हो जाता है।)

ज़ोरावरसिंह—

महाराज की दुहाई है ! महाराज की दुहाई है।

प्रबला—

परन्तु यह महाराज तो नहीं हैं। वे चले गये।

ज़ोरावरसिंह—

जो चले गये हैं, वह बाहर के महाराज हैं। हमारे घर के महाराज तो यही हैं।

अनूपसिंह—

ठीक है। हम न्याय करेंगे।

प्रबला—

वाह वा! बेटा मुक़द्दमा चलाएगा, पिता फ़ैसला करेगा, अब प्रबलसिंह की मौत आगई, उसे कौन बचा सकेगा ?

(ईरा का प्रवेश।)

ईरा—

तुम्हें मैं बचाऊँगी भाभी !

प्रबला—

कौन ईरा ?

ईरा—

आख़िर तुमने अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर ली। शहर तुम्हारी जय-जयकार से गूँज रहा है, और लोग तुम्हारा नाम ले ले कर ख़ुश हो रहे हैं। तुम्हारे जैसी बहादुर भाभी पाकर मैं फूली नहीं समाती।

ज़ोरावर—

मगर हमारी बात कोई नहीं सुनता।

अनूपसिंह—

तुम्हारी बात मैं सुनूँगा।

प्रबला—

नहीं नहीं तुम्हारी बात मैं सुनूँगी। ले बेटा! (जंगी वेश उतार कर) यह सरदार प्रबलसिंह मरा, और यह तेरी माँ तेरा मुँह चूमने के लिए आगे बढ़ी। कभी उसने तुम्हें जन्म दिया था, मगर आज।

ईरा—

तूने उसे जन्म दिया। आहा! हा!!

(सब हँसते हैं। परदा गिरता है।)